वितरक : मोहिनी प्रकाशन, १७, राजपुर रोड, देहरादून

गढ़वाली बोली

लेखक : डॉ० गोविन्द चातक, एम० ए०, पी-एच० डी०
प्रकाशक : लोक भारती, १०८-ए, कनाट प्लेस, देहरादून
मुद्रक : सुमेध कुमार गुप्ता, भास्कर प्रेस, देहरादून
आवरण : उमेश शर्मा, रूपरेखा, देहरादून
प्रकाशन तिथि : नवम्बर १९५९, मूल्य : तीन रुपए

भूमिका

डॉ० गोविन्द चातक के 'गढ़वाली भाषा' शीर्षक इस संक्षिप्त अध्ययन का मैं स्वागत करता हूँ। मुख्य पुस्तक चार भागों में विभक्त है : १. ध्वनितत्व, जिसमें स्वर और व्यंजन ध्वनियों का पृथक विवेचन है, २. रूप तत्व, जिसमें संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण और क्रियापद पर अलग अलग अध्याय हैं, ३. अव्यय, तथा ४. प्रत्यय और उपसर्ग। ग्रंथ के आरंभ में 'सामान्य परिचय' शीर्षक के अन्तर्गत गढ़वाल, गढ़वाली बोली तथा गढ़वाली शब्दकोष पर विस्तार से विचार किया गया है। पुस्तक के अन्त में परिशिष्ट स्वरूप गढ़वाल की उपबोलियों से संबंधित रोचक सामग्री है, और अन्त में गढ़वाली भाषा के कुछ प्रामाणिक उदाहरण 'चयनिका' शीर्षक से दिये गये हैं।

मैंने पुस्तक को आद्योपांत ध्यान से पढ़ा। मुझे यह देखकर अत्यन्त प्रसन्नता हुई कि यद्यपि सुयोग्य लेखक ने विषय का विवेचन संक्षेप में किया है, किन्तु अध्ययन का दृष्टिकोण पूर्णतया वैज्ञानिक है। इसके अतिरिक्त ग्रियर्सन तथा उनका अनुकरण करने वाले भारतीय विद्वानों के मतों को लेखक ने आंख मीच कर नहीं माना है बल्कि जहां लेखक सहमत नहीं है वहां उसने परम्परागत मतों की कारण देते हुए समीक्षा की है। यह अवश्य है कि लेखक की समीक्षा विस्तृत नहीं है, किन्तु वह लेखक के मत पर पूर्ण प्रकाश डालती है।

उदाहरण के लिए ग्रियर्सन ने पहाड़ी भाषाओं पर खस का बहुत अधिक प्रभाव माना है, तथा इस मत का भी प्रतिपादन किया है कि पहाड़ी भाषाएं एक प्रकार से मूल खस भाषा पर

राजस्थानी भाषा के प्रभावों के मिश्रण के फलस्वरूप विकसित हुईं। डॉ॰ चटर्जी ने ग्रियर्सन के मत का समर्थन किया है। लेखक पहाड़ी भाषाओं को हिन्दी के पश्चिमी वर्ग की उपभाषाओं के समान शौरसेनी अपभ्रंशों से विकसित मानते हैं। मेरा स्वयं झुकाव प्रारम्भ से लेखक के मत की ओर रहा है। मत स्वातंत्र्य के अनेक ऐसे उदाहरण दिए जा सकते हैं।

मेरी धारणा हैं कि अब समय आ गया है कि समस्त भारतीय भाषाओं के वैज्ञानिक अध्ययन तैयार किए जाने चाहिएं और इन अध्ययनों के आधार पर भारतवर्ष की भाषाओं की एक नई पूर्ण सर्वे तैयार की जावे। ग्रियर्सन का कार्य अपने समय की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण और पथप्रदर्शक था। किन्तु दुर्भाग्य से ग्रियर्सन को भाषा विज्ञान की शिक्षा पाए हुए कार्यकर्त्ता उपलब्ध नहीं थे। अब भारतीय विश्वविद्यालयों, लिंग्विस्टिक सोसायटी तथा डेकन कालेज, पूना के सम्मिलित उपयोग के फलस्वरूप इस प्रकार के कार्यकर्त्ता पर्याप्त संख्या में मिल सकते है।

अवसर दिए जाने पर डॉ० गोविन्द चातक गढ़वाली भाषा की प्रचुर सामग्री के आधार पर इस भाषा का अधिक विस्तृत और पूर्ण अध्ययन सरलता से उपस्थित कर सकते हैं, तथा उनके क्षेत्र की भाषा सर्वे के संचालन में उनके जैसे विशेषज्ञ से बहुत अधिक सहायता मिल सकती है। मुझे विश्वास है कि भारतीय भाषाओं के अध्ययन में रुचि रखने वाले विद्वान् डॉ० चातक के प्रस्तुत अध्ययन को अत्यन्त रोचक और उपयोगी पावेंगे।

काशी
दीपावली संवत् २०१६

धीरेंद्र वर्मा

विषय-क्रम

स्वगत



गढ़वाली तथ्यतः एक बोली है। अन्दर के पृष्ठों में उसे बोली ही कहा गया है किन्तु पुस्तक का नाम मैंने 'गढ़वाली भाषा' ही चुना है। इसमें गढ़वाली को भाषा मानने का दुराग्रह नहीं है। केवल विषय की स्पष्टता की दृष्टि से ऐसा किया गया है। अतः विज्ञ आलोचक अन्यथा न समझें।

पहाड़ी बोलियों का अध्ययन अपेक्षाकृत कठिन विषय है। एक तो इन पर अभी तक शोध कार्य नहीं हुआ है; दूसरी बात यह है इनमें लोक-साहित्य के अतिरिक्त लिखित साहित्य और भाषा के रूपों की सामग्री उपलब्ध नहीं होती। इस दशा में यह कार्य बहुत समय, बहुत साधन और बहुत व्यक्तियों को चाहता है। मेरी शक्ति की सीमाएं है। आगे के अध्येताओं के लिए मैंने केवल एक आधार भूमि मात्र बनाई है। वैसे इस प्रकार का यह पहला अध्ययन है जो अपने में ही एक पूर्ण प्रयास भी है और अपूर्ण भी। मैं तो इसे प्रस्तुत कर ही संतोष पा रहा हूं। कभी किसी योग्य विद्वान द्वारा यह अध्ययन आगे बढ़ सके—यही मेरी कामना है। पर इसके लिए प्रतीक्षा तो करनी ही होगी। इस पुस्तक से कोई अविलम्ब प्रेरणा भी मिल पाई तो मैं अपने को सफल समझूंगा।

आलोचकों से मुझे इतना ही कहना है कि कुछ विशेष कारणों से पुस्तक को लघु आकार में प्रस्तुत करना ही मेरा ध्येय रहा है। फिर

भी विषय की मुख्य बातों और प्रश्नों की मैंने सर्वत्र चर्चा की है। कुछ विषय ऐसे अवश्य हैं जिन पर अभी प्रयाप्त अध्ययन, मनन और विश्लेषण की आवश्यकता है। मैंने विद्वानों के सामने उन्हें रख दिया है और मेरा अनुरोध है कि अब उनकी ओर उनका ध्यान जाना ही चाहिए। वास्तव में हिन्दी में एक गंदी या अंधी कहिए—परम्परा चली आ रही है कि हिन्दी के विद्वान् अपने दिमाग से नही सोचते, तोते की तरह रट लगाते हैं। गढ़वाली के सम्वन्ध में उनकी धारणाएं पिटी-पिटाई रही हैं। उन्हें सुधारना आवश्यक है। डॉ० ग्रियर्सन या डॉ० चाटुर्ज्या जो कुछ कहते हैं, वही सत्य नहीं, या सत्य वह ही नहीं है जो विश्वविद्यालयों के प्रोफेसर अपने चेलों से घोटवाते हैं। सत्य खोजा जाना चाहिए—यह पुस्तक आपका आह्वान करती है।

इसी ध्येय से मैंने गढ़वाली वोली के सम्वन्ध में अपनी स्थापनाओं पर भाषा शास्त्र के कुछ हिन्दी विद्वानों की प्रतिक्रिया जाननी चाही। किन्तु कुछ तो निपट मौन हो गए, क्योंकि पुस्तक में उनके या उनके गुरुओं के मतों का खण्डन किया गया था। फिर भी कुछ विद्वानों ने गढ़वाली के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किए हैं। कई दृष्टियों से वे महत्वपूर्ण ही नहीं, मूल्यवान् भी हैं। उनके लिए मै श्रद्धेय डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल, डॉ० बाबूराम सक्सेना, डॉ० भोलाशंकर व्यास, डॉ० हेमचन्द्र जोशी, तथा डॉ० तोमर का विशेष आभारी हूं।

प्रेस की असुविधा के कारण मुझे लिपि चिन्हों के प्रयोग में बड़ी असुविधा रही है। इसके अतिरिक्त कई स्थलों पर मात्राएं भी टूट गई हैं। पाठक पृष्ठ ८५ पंक्ति ५ पर 'त्रैई' के स्थान पर 'तबैं' पढें।

गोविन्द चातक

चकरौता रोड,
देहरादून

आमुख



भारत के मध्य देश की अन्तर्वेदि भारतीय भाषा, धर्म, दर्शन और संस्कृति की महावेदि रही है। गगा और यमुना की इस पवित्र भूमि में निर्माण की महती शक्ति है। इसके अनवरत स्पन्दन से प्रभावित होकर प्राचीन राष्ट्र-निर्माताओं ने उसे मातृ-भूमि का हृदय कहा था। इसी के उत्तर का मुकुट प्रदेश, जो आजकल गढ़वाल कहलाता है, प्राचीन भूगोल का वदरी-केदार खण्ड है भारतीय साहित्य से यह सुप्रमाणित होता है कि मध्य देश और वदरी-केदार एक ही भौगोलिक संस्थान के अभिन्न अंग रहे हैं। प्रकृति की रचना-विधि में इसके स्फुट चिन्ह अंकित हैं। गंगा-यमुना के पर्वतीय उद्गम और प्रस्रवण क्षेत्र किसी प्रकार भी अविनायुक्त नहीं जान पड़ते।

जो प्रकृति का विधान था, उसी की रूप रेखा मानवी संस्कृति के विकास में परिलक्षित हुई—ऐसा मानने के प्रयाप्त कारण हैं। धर्म के क्षेत्र में वदरी-केदार का जैसा रूप है, वही मध्य देश की धार्मिक मान्यता में माना जाता है। नाग-यज्ञ, भूमि देवता, त्रिदेव आदि का एक सा पट-जाल सर्वत्र बुना हुआ है। श्री गोविन्द चातक अपनी पहली ोध कृति 'गढ़वाली लोक गाथाएं' शीर्षक में यह सिद्ध कर चुके हैं क लोकवार्ता शास्त्र की सामग्री भी वदरी-केदार और मध्यदेश के जनपदों एक जैसी है। गंगा के हिमगिरि प्रदेश और मैदानी क्षेत्र में तथ्यतः द नहीं हैं और यह स्वाभाविक है।

प्रस्थापना



राष्ट्रभाषा हिन्दी के सर्वांगीण भाषा-शास्त्रीय अध्ययन के लिए यह आवश्यक है कि न केवल उसकी विभाषाओं और बोलियों का ही विवरणात्मक अध्ययन उपस्थित किया जाए, अपितु उससे सम्बद्ध उन भाषाओं और बोलियों को भी अध्ययन का विषय बनाया जाय, जो हिन्दी से निकटतया सम्बद्ध रही हैं। मैथिली, राजस्थानी, पहाड़ी आदि भाषायें इसी कोटि की हैं, जिन्हें भाषाशास्त्रीय दृष्टि से भले ही हिन्दी की विभाषाएं न कहा जाए, किन्तु जो सांस्कृतिक, ऐतिहासिक तथा साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी की विभाषाओं-सी मानी जाती हैं। यही कारण है कि भाषा-वैज्ञानिकों में इन भाषाओं की स्थिति के विषय में मतभेद पाया जाता है। जहां एक ओर ग्रियर्सन जैसे विद्वान् पहाड़ी भाषाओं को हिन्दी से सर्वथा भिन्न मान कर उन्हें 'दरद' या 'पिशाच' वर्ग से जोड़ते हैं, वहां केलॉग जैसे वैयाकरण इन्हें स्पष्टतः हिन्दी की विभाषाएं घोषित करते हैं; किन्तु गतानुगतिकता के आधार पर इन्हें 'खश', 'दरद' या 'पिशाच' कह बैठना या एक दम 'हिन्दी की बोली' घोषित कर देना भी सहसा मान्य नहीं हो सकता।

मेरे मित्र डॉ० गोविन्द चातक ने, जिनकी मातृभाषा भी गढ़वाली ही है, मध्य पहाड़ी की इस प्रमुख विभाषा का अध्ययन उपस्थित कर उसके वास्तविक रूप को विद्वानों के समक्ष विश्लिष्ट करने

का सुप्रयास किया है। डा० चातक ग्रियर्सन, डा० चाटुर्ज्या आदि भाषा-वैज्ञानिकों से असहमति प्रकट करते हुए डा० भण्डारकर तथा केलॉग के मत से सहमत हैं, जो गढ़वाली को 'पहाड़ी हिन्दी' के अन्तर्गत मानते हैं।

ग्रियर्सन ने पहाड़ी भापाओं को 'दरद' कहा है। इनमें पश्चिमी पहाड़ी वोलियों के विषय में तो विवाद की कोई गुंजायश नहीं है, क्योंकि वे निश्चित रूप में 'दरद' वोलियों से पर्याप्त रूपेण प्रभावित हैं तथा 'दरद' एवं 'उदीच्य' प्राकृत की किसी खिचड़ी विभाषा का विकास जान पड़ती हैं। किन्तु मध्य पहाड़ी का शौरसेनी-जनित मध्यदेशीय भाषाओं से अत्यधिक साम्य देख कर इन्हें पश्चिमी-पहाड़ी के साथ खतिया देने के पहले कुछ सोच-विचार करना जरूरी जान पड़ता है।

ग्रियर्सन ने 'इण्डियन एण्टीक्वेरी' (१९१४) में प्रकाशित लेख 'पहाड़ी लैंग्वेजेज' में इन भापाओं का सम्वन्ध स्वात प्रदेश की मूल भापा से जोड़ा है, जिसका एक रूप पश्तो के साथ-साथ आज भी पाकिस्तान के पश्चिमोत्तर सीमा प्रांत में वोला जाता है। ग्रियर्सन ने संकेत किया है कि इस प्रदेश की 'गूजरी' वोली में मेवाती, मेवाड़ी, जैसी राजस्थानी विभाषाओं और पहाड़ी विभाषाओं में निकटतम समानता पाई जाती है। इसी सम्वन्ध में वे यह भी वताते हैं कि 'सपादलक्ष' की मूल भाषा को कई विद्वानों ने भारतीय आर्य-भाषा नहीं माना है। पर इसके साथ ही ग्रियर्सन यह भी स्वीकार करते हैं कि गुर्जरों की मूल भाषा की प्रकृति के विषय में हमारी जानकारी नहीं के वरावर है। हम केवल इतना भर जानते हैं कि कुछ राजस्थानी वोलियों का संवन्ध परसर्ग 'हन्दो', सहायक क्रिया 'छौं' (छूं), तथा भविष्यत् के '-ल' वाले रूप पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त की पिशाच वोलियों में भी पाए जाते हैं। इस तरह इन्हीं तत्वों में से कुछ के पाए जाने के कारण पहाड़ी वोलियों को भी गुर्जरों की भाषा से निकटतया सम्वद्ध मानते हैं। डा० चाटुर्ज्या ने भी पहाड़ी वोलियों को 'खशखुरा' वर्ग के अन्तर्गत सम्मिलित कर इन्हें शोरसेनी से उद्भूत नहीं माना है।

इस सम्बन्ध में डॉ० गोविन्द चातक के मतानुकूल मुझे डॉ० टी० एन० दवे की स्थापना विशेष समीचीन जंचती है, जो पहाड़ी बोलियों को शौरसेनी से ही विकसित मानते हैं। उन्होंने शौरसेनी प्राकृत से विकसित परवर्ती अपभ्रंश को चार वर्गों में विभक्त करते हुए 'हिमाचल अपभ्रंश' की स्वतन्त्र परिकल्पना की है (जी०आर०एस०जे०, जुलाई १९५०)।

डॉ० दवे के इस वर्गीकरण में कुछ परिवर्तन चाहते हुए मैं पहाड़ी विभाषाओं को शौरसेनी-जनित नहीं मानना चाहता। हिमाचल अपभ्रंशों को गुर्जर जाति की भाषा ने अवश्य प्रभावित किया जान पड़ता है, किन्तु यह प्रभाव इतना नहीं है कि हम मध्य पहाड़ी तथा पूर्वी पहाड़ी को आर्य भाषाओं की पांत से सर्वथा बाहर निकाल दें। मेरा ऐसा अनुमान है कि गढ़वाली आदि की मूल भित्ति शुद्ध शौरसेनी की ही रही होगी, तथा इस पर बाहरी तत्व केवल ऊपर से थोपे गये हैं। डॉ० चातक के इस कथन से मैं पूरी तरह सहमत हूँ कि, "पैशाची तथा दरद भाषाओ को लेकर यदि गढ़वाली बोली का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो स्पष्टतः साम्य के बहुत कम आधार मिलेंगे"। पिशाच भाषाओं की कतिपय ध्वनात्मक विशेषताओं में से कोई भी गढ़वाली में नहीं मिलती। इसी तरह अन्य कारणों के आधार पर भी गढ़वाली का दरद भाषाओं से कोई खास संवन्ध नहीं सिद्ध होता।

गढ़वाली, कुमायूंनी तथा नेपाली का राजस्थानी भाषाओं से घनिष्ठ संबंध माना जाता है तथा भाषावैज्ञानिकों ने प्रायः इस विन्दु पर अधिक जोर दिया है। ग्रियर्सन का अनुमान है कि गढ़वाल प्रदेश से गुर्जरों ने अन्तर्वेद के मार्ग से राजस्थान में प्रवेश किया था तथा वाद में वे पुनः वहां से पहाड़ी प्रदेश में लौट आये। इस बात की पुष्टि में ग्रियर्सन ने विन्सेंट स्मिथ को प्रमाण रूप में उपन्यस्त किया है जो राजस्थान के राजपूतों तथा हिमालय के पहाड़ी लोगों में समान-रक्त-संवन्ध मानते हैं। डा० चातक राजस्थानी तथा गढ़वाली की कतिपय समानताओं को स्वीकार तो करते हैं, किन्तु उनका मत है कि यह साम्य बहुत

महत्त्वपूर्ण नहीं है तथा वे ऐसी समानताओं को अन्य भाषाओं में भी संकेतित करते हैं।

इन समानताओं में पहली समानता ध्वन्यात्मक है। राजस्थानी तथा गढ़वाली दोनों में ण, ड़ तथा ल ध्वनियां समानतः पाई जाती हैं। यद्यपि ड़ ध्वनि परिनिष्ठित एवं कथ्य खड़ी बोली में भी पाई जाती है, किन्तु वहां यह उत्क्षिप्त मूर्धन्य (प्रतिवेष्टित) 'ड़' का ही ध्वन्यंग (allophone) है, स्वतन्त्र ध्वनि (phoneme) नहीं। राजस्थानी की भांति गढ़वाली में भी 'ड़' तथा 'ळ' स्वतन्त्र ध्वनियां हैं, यद्यपि ये केवल स्वरमध्य तथा पदांत में ही पाई जाती हैं, पदादि में नहीं। ठीक यही बात 'ण' ध्वनि के विषय में कही जा सकती है। यह भी इन दोनों बोलियों में परिनिष्ठित खड़ी बोली की तरह 'न' का ध्वन्यंग नहीं है, तथा यह ध्वनि कथ्य खड़ी बोली तक में पाई जाती है। ऐसा जान पड़ता है, भारत के नक्शे में हमें पहाड़ी प्रदेश से चलकर खड़ी बोली के मूल प्रदेश, पंजाबी प्रदेश, राजस्थानी, गुजराती, मराठी भाषी प्रदेशों को उस वर्ग में विभक्त करना होगा, जहां स्वरमध्य 'ण' सुरक्षित रहा है।

कहने का तात्पर्य यह है कि गढ़वाली ध्वनि-संघटना ब्रज, कन्नौजी या बुन्देली की अपेक्षा राजस्थानी-गुजराती-मराठी के अधिक समीप है, इसे कोई इन्कार नहीं करेगा। राजस्थानी भाषा से गढ़वाली में एक महत्वपूर्ण समानता यह पाई जाती है कि यहां पदमध्य महाप्राण ध्वनि की प्राणता प्रायः पदादि स्पर्श व्यंजन में अन्तर्भुक्त हो जाती है। यदि पदादि में सघोष अल्प प्राण ध्वनि है, तो उसे महाप्राण न बनाते हुए भी पदमध्य महाप्राण ध्वनि की प्राणता का लोप देखा जाता है। इस प्रक्रिया से ही सम्बद्ध वह प्रक्रिया है, जहां पदमध्य 'ह' का लोप कर उसके स्थान पर आश्वसित या कण्ठनालिक स्पर्श का उच्चारण पाया जाता है। पूर्वी राजस्थानी से गढ़वाली की एक अन्य समानता पदान्त ओ ध्वनि का सानुनासिक उच्चारण है। पूर्वी राजस्थानी में

प्राय: पदान्त अनुनासिक व्यंजन के वाद 'ओ' ध्वनि होने पर उसका उच्चारण 'ऊं' पाया जाता है—नानूं, मामूं, दाणूं आदि। इसी तरह उसमें क्रिया के तुमंतरूप प्राय: 'णू' वाले पाए जाते है, जिनका गुजराती रूप 'णु' है। गढ़वाली में भी खड़ी बोली हिन्दी की तरह ही ये रूप 'न-ण' वाले ही है, व्रज की तरह 'वो' वाले नहीं : जैसे, पूर्वी राजस्थानी 'पढ़णूं पडसी' (पढ़ना पड़ेगा)। लेकिन जहां खड़ी वोली में तुमन्त रूप आकारान्त है, वहां गढ़वाली में वे सम्भवत: 'ओकारान्त' थे, जो अनुनासिक व्यजन के प्रभाव से 'ऊं'कारांत हो गये हैं।

राजस्थानी तथा गढ़वाली की पदरचनात्मक संघटना में भी कुछ समानताएं देखी जा सकती हैं, किन्तु गढ़वाली पर अवातर प्रभाव ज्यादा दिखाई पड़ते है। राजस्थानी की तरह यहां भी कर्ता में न, कर्म में कू, करण में से, सम्प्रदान में क, ताई (गढ़० तई), कू, अपादान में से, ते, सम्बन्ध में को, का, की, रो (गढ़० र), रा, री, अधिकरण, मां पाए जाते है, किन्तु गढ़वाली में कई दूसरे परसर्ग भी है, जो वहां नहीं मिलते। पूर्वी राजस्थानी में तो 'न' (हि० ने) कर्ता, कर्म तथा सम्प्रदान तीनों में पाया जाता है।

नैं (गढ़० 'न') परसर्ग का कर्म तथा सम्प्रदानगत प्रसार यहां नही देखा जाता; किन्तु डॉ० चातक ने इसका करण तथा अपादान वाला प्रयोग संकेतित किया है। राजस्थानी की तरह गढ़वाली के सबल संज्ञा तु० रूप ओकारांत है, जिनके व०व० विकारी रूपों में 'मामौंन, चाचौन, भायौंन' जैसे रूपों का संकेत डा० चातक ने किया है। राजस्थानी में ये विकारी रूप दुहरे पाए जाते है, साधारण रूप मामांनै अवधारणार्थक विशिष्ट रूप मामान्नै, काकान्नै, भायान्नै।

राजस्थानी तथा गढ़वाली की अन्य समानता भविष्यदर्थे '-ल' वाले प्रयोग है। राजस्थानी में गढ़वाली की तरह 'लो' का कर्मवाच्य वाला रूप नही पाया जाता। दोनों भाषाओं में सहायक क्रिया 'छै' पाई जाती है। भूतकालिक कृदन्त वाले रूप दोनों में 'यो' (ब० व० या)

प्रत्यय वाले पाए जाते हैं, राज० गढ़० चल्यो, ग्यो (चलितः गतः)।

इन समानताओं को देखकर ऐसा जान पड़ता है कि गढ़वाली तथा राजस्थानी का परस्पर सम्बन्ध खड़ी बोली तथा व्रज की अपेक्षा एक दूसरे के अधिक निकट है तथा इन दोनों में कुछ ऐसी समान विशेषताएं पाई जाती हैं, जो समग्र रूप में हिन्दी की विभाषाओं में नहीं मिलतीं। गढ़वाली और राजस्थानी के तुलनात्मक अध्ययन के पश्चात् ही इस निर्णय पर पहुँचा जा सकता है कि इनका परस्पर सम्बन्ध हिन्दी की अपेक्षा कम है या अधिक। मेरी ऐसी धारणा है कि राजस्थानी, गढ़वाली आदि भाषाओं को केवल इसीलिए हिन्दी की विभाषायें न मान लिया जाय कि ये भाषाएं साहित्यिक दृष्टि से सदा हिन्दी का मुंह जोहती रही हैं। साहित्यिक दृष्टि से हिन्दी की विभाषायें माने जाने पर भी भाषा वैज्ञानिक दृष्टि से इनका स्वतन्त्र अस्तित्व जान पड़ता है। इस विषय में अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचने के पहले समस्त पहाडी विभाषाओं का तुलनात्मक अध्ययन आवश्यक है। मुझे डॉ० गोविन्द चातक के अतिरिक्त अन्य उपयुक्त व्यक्ति नहीं दिखाई पड़ता जो इस दिशा में आगे वढ़कर नव्य भारतीय आर्यभाषाओं के अध्ययन में नया अध्याय जोड़ सके। प्रस्तुत पुस्तक 'गढ़वाली भाषा' उसी का श्रीगणेश है। 'गढ़वाली भाषा' के द्वारा केन्द्रीय पहाड़ी की एक विभाषा का अध्ययन प्रस्तुत करने के लिए मैं उन्हें वधाई देता हूं और आशा ही नहीं, मुझे पूर्ण विश्वास है कि वे पहाड़ी विभाषाओं के अधिकारी विद्वान् के रूप में स्थान वना पायेंगे।

हिन्दू विश्व विद्यालय
वाराणसी

भोलाशंकर व्यास

सामान्य परिचय

गढ़वाल



§१. पावन सलिला गंगा और यमुना का मातृ—गृह, गिरिराज हिमालय का दिव्य भाल गढ़वाल भारत का एक अन्यतम भू-लोक है। उत्तर में भोट (तिब्बत), पश्चिमोत्तर में हिमाचल प्रदेश, पूर्व और दक्षिण में कुमाऊं और जिला देहरादून से घिरा १०१४५ वर्गमील और १० लाख से अधिक जनसंख्या वाला यह पर्वतीय प्रदेश एक दूसरा ही विहँसता विलखता संसार है। प्राचीन काल में यह भू-भाग उत्तराखण्ड, केदारखण्ड, हिमवंत आदि अनेक नामों से ख्यात रहा है। मध्यकाल में सामन्ती गढ़ों की अधिकता के कारण इसका नाम 'गढ़वाल' पड़ गया जो संभवतः उसे गोरखों से प्राप्त हुआ था।

§२. गढ़वाल वास्तव में वन, पर्वतों और नदियों का प्रदेश है। उसका एक चौथाई भाग वनों और चट्टानों से ढका है। हिमालय की कुछ प्रसिद्ध श्रेणियां गढ़वाल में ही पड़ती हैं। नदादेवी, त्रिशूल, चौखम्बा, कामेत, गन्धमादन सतोपंथ, नीलकण्ठ, केदारकांठा, वन्दरपूंछ आदि अनेक पर्वत श्रेणियां वहां आकाश की ऊंचाई को नापती दिखाई देती हैं। नदियों की घाटियां गहरी हैं और अनेक स्थलों पर समतल भी। यही विविधता अनेक प्रकार के सौन्दर्य की सृष्टि करती मिलती है। कहीं पाताल को जाती हुई घाटियां और कहीं आकाश को चूमती हुई पर्वतमालायें इसी भूमि की विषमता है। उसी प्रकार वहां के वर्फ

से ढके ढालू पर्वत, दूर तक फैले हुए पयार या बुग्याल (चरागाह), मीलों तक फैले चीड़ और देवदारु के सुरम्य वन, उनकी छाया में बसे मनोरम ग्राम, सीढ़ियों की भांति उठते खेत, पर्वत की कटि पर लुढ़कती सी सरिताएं और मेखला सी लिपटी चढ़ती उतरती राहें—ये सब न जाने हिमालय के कितने विराट् सौन्दर्य को अपने में समेटे हैं !

§३. गढ़वाल अपने प्राकृतिक ऐश्वर्य के लिए तो प्रसिद्ध है ही। इसके अतिरिक्त उसकी अपनी बहुत प्राचीन ऐतिहासिक परम्परा भी है। प्रागैतिहासिक काल में गढ़वाल यक्ष, नाग, किरात आदि लोगों से सम्बन्धित रहा है। वहां के लोक गीतों और लोक विश्वासों में इनके विषय में अनेक संदर्भ मिलते हैं। यक्षों को वहां जाख या जग्स कहा जाता है। जाख या जाखनी नाम से आज भी गढ़वाल में कई गांव मिलते हैं। रवाईं में जाख एक देवता माना जाता है। शेष गढ़वाल में यक्ष 'जग्स' नाम से अनिष्टकारिणी शक्ति के रूप में अभिहित हैं। कुबेर यक्षों का सम्राट् था। उसकी राजधानी अलका गढ़वाल की सुप्रसिद्ध नदी अलकनन्दा के मूल पर ही कहीं रही होगी। नागपुर और उरगम पट्टियां विशेषतः नागों से सम्बन्धित थीं। नगेलो, नाग देवता, नागर्जा आदि नामों से आज भी गढ़वाल में नाग-पूजा प्रचलित है और ऐसी अनेक गाथाएँ हैं जिनमें नाग-संघर्ष के आख्यान विद्यमान हैं। कोल, किरात और भील उस युग में बहुत शक्तिशाली थे। ये ही लोग सम्भवतः गढ़वाल के आदिम निवासी रहे होंगे। बाद में खशों और आर्यों के प्रवेश के बाद भी जब वे उनके दास बन गए तब भी इनका प्रभाव अक्षुण्ण बना रहा। खशों और आर्यों के सम्पर्क से गढ़वाल में संस्कृति का जो विकास हुआ उसमें इन आदिम निवासियों की संस्कृति के अवशेष पीछे नहीं छूट पाए।

§४. 'केदारे खश मण्डले' उक्ति हमारा ध्यान खशों की ओर आकर्षित करती है। यह स्पष्ट संकेत है कि गढ़वाल में खश प्रर्याप्त संख्या में निवास करते थे। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने यह माना है कि

खश गढ़वाल में आर्यों से भी पहले प्रवेश कर चुके थे[1]। वे यह तो स्वीकार करते हैं कि महाभारत काल तक गढ़वाल में आर्यों की छोटी मोटी बस्तियां बस चुकी थीं, पर उनके अनुसार वैदिक काल में यह प्रदेश आर्यों को ज्ञात न था। इस विषय पर मतभेद के लिए बहुत स्थान है। कुछ गढ़वाली विद्वानों—विशेषतः कैप्टेन शूरवीर सिंह और हरिराम घस्माना ने गढ़वाल को ही सप्तसिन्धु प्रदेश सिद्ध करने का प्रयास किया है। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि गढ़वाली सँस्कृति और भाषा में आरम्भिक आर्य संस्कृति के अवशेष विद्यमान हैं। आर्य इस क्षेत्र से परिचित थे यह इसी से सिद्ध है कि कई विद्वान् यह स्वीकार करते हैं कि आर्यों ने भारत में मध्य हिमालय (गढ़वाल, कुमाऊं आदि) से प्रवेश किया। वेदों में गंगा और यमुना के नाम आये हैं। आपत्ति हो सकती है कि वेदों में पंजाब के सौंदर्य का वर्णन है। पर सत्य यह है कि अधिक भाग में बादल, बिजली और पहाड़ों पर घनघोर वर्षा के रुद्र रूप का वर्णन मिलता है। यह वर्णन पंजाब का नहीं, ब्रह्मावर्त प्रदेश का है जहां ऋग्वेद का अधिकांश भाग रचा गया था।[2] ब्रह्मावर्त, ब्रह्मर्षि देश या ब्रह्मपुर गढ़वाल का ही प्राचीन नाम था। जनश्रुति यह भी बताती है कि वेद गढ़वाल के बैदिणी क्षेत्र में लिखे गए थे। ऋग्वेद में उत्तरी यमुना के तट पर किसी युद्ध का उल्लेख है। और वहीं दास (आदिम कोल, भील, असुर, नाग किरात, यक्ष)और आर्य संघर्ष के भी दर्शन होने लगते हैं। उसमें दाशराज्ञ अर्थात् दस राजाओं के युद्ध का वर्णन है, जो सुदास के साथ हुआ था। यह संघर्ष उत्तर पश्चिम के जनों से सम्बन्धित था और इनमें से तीन जन जमुना-तट-वासी कहे गए हैं।[2] इसी प्रकार सुदास का जिस शंबर असुर से मुकाबला हुआ था वह किरातों का राजा था और पर्वत वासी था। शंबर के दुर्ग गढ़वाल और कुमाऊं में ही रहे होंगे। यह[1] राहुल जी भी स्वीकार करते

---

१ हिमालय परिचय (१) गढ़वाल, पृ० ५६,६०

२ डॉ० मुकर्जी : हिन्दू सभ्यता, पृष्ट ७०,७१

हैं। अतः आर्यों और इतर जातियों का यह संघर्ष इस वात का द्योतक है कि आर्य इस क्षेत्र पर वहुत पहले से अधिकार करने लगे थे।

§५. 'केदारे खश मण्डले' उक्ति को लेकर राहुल जी ने केदार-खण्ड को खश देश का पर्याय माना है। किन्तु गढ़वाल की भाषा और संस्कृति खश-देशों के अनुरूप नहीं है। खशों को वहां अनेक जातियों में एक जाति अवश्य स्वीकार किया जा सकता है, पर गढ़वाल को 'खश-मण्डल' कहना अनुचित होगा। सत्य यह है कि गढ़वाल के कुछ क्षेत्रों में खशों की प्रधानता है और उन्हीं क्षेत्रों को संभवतः केदार भूमि के खश मण्डल के रूप में पुकारा जाता रहा होगा। इसलिए खश मण्डल केदार खण्ड के अन्तर्गत कोई मण्डल ही हो सकता है। ऐटकिन्सन ने भी यह स्वीकार किया है कि गढ़वाल के लोगों को खश स्वीकार करना असम्भव है।

§६. गढ़वाल का क्रमवद्ध इतिहास उपलब्ध नहीं। वैसे कत्यूरी वहाँ का सवसे पहला ऐतिहासिक राजवंश माना जाता है। इस जाति के लोग आज भी वहां अपने को कैंतुरा कहते हैं। ८५० ई० के आस-पास कत्यूरियों ने अपना राज्य हिमालय में स्थापित कर दिया था। ऐटकिन्सन ने कत्यूरियों का सम्बन्ध काबुल के कटोर वश से जोड़ने का प्रयास किया है किन्तु राहुल जी ने उन्हें शकों की कुषाण शाखा के अन्तर्गत माना है।[1] कत्यूरियों के सम्बन्ध में एक विचित्र तथ्य यह भी है कि उनके ताम्रपत्र और लेख अपनी शैली में बंगाल के पाल वंशीय राजाओं के शिला लेखों से वहुत मिलते-जुलते हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि पाल और कत्यूरी लोग किसी न किसी रूप में परस्पर सम्वन्धित थे।

§७. कत्यूरियों का शासन १०१५ ई० तक रहा। उसके वाद भी अनेक जातियों के प्रवेश का तारतम्य वना रहा। फिर एक लम्वे समय (११६० ई० से १४०० ई०) तक की अराजकता के वाद गढ़वाल

---

१ राहुल : हिमालय परिचय पृ० ०२

में पंवार वंश की स्थापना हुई। पँवार लोग सम्भवतः गुर्जर थे। गुर्जरों ने ५ वीं शती में भारत में प्रवेश किया और नवीं शती तक उनके छोटे-छोटे राज्य स्थापित हो चुके थे। ग्रियर्सन की स्थापना है कि गुर्जर हिमालय की तराई से होकर गढ़वाल में फैले और फिर राजस्थान जाकर गढ़वाल में चले आये।[1] इस कथन पर हम आगे विचार करेंगे। यहां राजस्थान और गढ़वाल के सम्बन्धों को स्वीकार करना ही प्रयाप्त होगा। गढ़वाल में कनकपाल के इस गुर्जर वंश की स्थापना ९ वीं शती में हो चुकी थी और फिर वहां अन्त तक पँवार वंश का ही शासन रहा।

§८. इस प्रदेश पर मुसलमानों का आधिपत्य नहीं रहा; पर वे इससे अपरिचित नहीं थे। १६५९ ई० में दाराशिकोह का पुत्र सुलेमान शिकोह औरंगजेब के कोप से बचने के लिए गढ़वाल के राजा की शरण में श्रीनगर आया था। गढ़वाल की बाहरी सीमा पर मुगलों ने सम्भवतः आक्रमण भी किए थे। रवाई, जौनपुर और जौनसार में मुगल आक्रमण के गीत मिलते हैं। यह आक्रमण सम्भवतः शाहजहां ने किया था और उस समय गढ़वाल पर महाराज फतेहशाह राज्य करते थे।

§९. गढ़वाल के इतिहास में दूसरी सबसे बड़ी घटना गोरखा आक्रमण के रूप में घटी। १९०३ ई० में नेपाली सेना ने गढवाल की ओर अभियान किया। गढ़वाल के तत्कालीन नरेश प्रद्युम्नशाह ने उनका मुकाबला किया, किन्तु १८०४ ई० में देहरादून के खुड़बुड़ा नामक स्थान पर लड़ते हुए उनका प्राणांत हो गया। १८०४ ई० में गढ़वाल गोरखों के हाथ में चला गया। अंग्रेजों ने गोरखों की बढ़ती शक्ति का सामना किया और १८१५ ई० में गढ़वाल को उनसे मुक्त कराकर आधा भाग अपने लिए रख लिया। फलतः पौड़ी गढ़वाल अंग्रेजों के अधिकार में आ गया और टिहरी गढ़वाल पँवार वंश के अधिकार में ही रहा।

---

१ लिं० स० ऑव इंडिया, जिल्द ९, भाग ४

अब ये दोनों प्रदेश गणतन्त्र के पश्चात् उत्तर-प्रदेश के दो जिले वन गए हैं।

§१०. गढ़वाल की ऐतिहासिक परिस्थितियों का वहां की भाषा पर. वड़ा प्रभाव पड़ा है। आगे के पृष्ठों में गढ़वाली भाषा का विवेचन करते हुए हम इस पारस्परिक सम्वन्ध की व्याख्या कर सकेंगे। वास्तव में गढ़वाल एक प्रदेश या प्रादेशिक इकाई नहीं है—यह भारत का सूक्ष्म रूप है। इसकी भाषा और संस्कृति में कोल, भील, किरात, यक्ष, खश, द्रविड़ हूण, शक, गुर्जर, नाग. आर्य आदि अनेक जातियां समाई हुई हैं और राजस्थान, महाराष्ट्र, गुजरात, पंजाव, बंगाल जैसे सुदूर प्रदेशों से भी यह आश्चर्यजनक निकटता निभाए हुए हैं। इस प्रकार गढ़वाल की भाषा और संस्कृति के ऊपर एक के वाद एक तहें और परतें हैं, जिन्हें इतिहास जमा करता गया है।

गढ़वाली बोली



§११. गढ़वाल जनपद की बोली गढ़वाली कहलाती है। गढ़वाली मध्य पहाड़ी के अन्तर्गत आती है। ग्रियर्सन ने भारतीय आर्य भाषाओं का विभाजन करते हुए मध्य पहाड़ी की स्थिति भीतरी उपशाखा में निर्धारित की है।[1] बाद में डा० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्या ने ग्रियर्सन की स्थापना से मतभेद प्रकट करते हुए भारतीय आर्य भाषाओं का वर्गीकरण बहुत कुछ अपने ढंग से अवश्य किया पर पहाड़ी भाषाओं के सम्बन्ध में उनकी सूझ ग्रियर्सन से आगे नहीं बढ़ी। उन्होंने भी उन्हें दरद अथवा खश प्राकृत से सम्बन्धित बताकर और मध्यकाल में उन पर राजस्थान की प्राकृत और अपभ्रंश का प्रभाव घोषित कर अपने वक्तव्य की इति श्री कर दी।[2] तब से हिन्दी में यह परम्परा बद्ध-मूल सी वर्षों से विद्वानों के बीच निभाई जा रही है।

ग्रियर्सन के वर्गीकरण का आधार हार्नले की स्थापनाएं थीं।[3] आधुनिक आर्य भाषाओं के सूक्ष्म अध्ययन के पश्चात् वे इस निर्णय पर पहुंचे थे कि आर्य भारत में कम से कम दो बार आये और नवागत आर्यों के आने के कारण पूर्वागत आर्यों को पूर्व दक्षिण और पश्चिम में

---

१ लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिया, ग्र० ११, पृ० १२०

२ ओरिजिन ऐण्ड डेवलपमेण्ट ऑव बेंगाली लैंग्वेज, पृ० ६

३ ईस्टर्न हिन्दी ग्रैमर, भूमिका, पृ० ३२

फैलना पड़ा। ग्रियर्सन ने इसी सिद्धान्त का उपयोग करते हुए अपना वर्गीकरण प्रस्तुत किया था। डॉ० चाटुर्ज्या का वर्गीकरण भौगोलिक है और वे वाहरी और भीतरी उपशाखा वाले विचार का समर्थन नहीं करते। किन्तु स्वयं डॉ० चाटुर्ज्या भी इस वात को मानते हैं कि भारत में आर्यों की अनेक शाखायें प्रवेश करती रहीं और प्रत्येक शाखा की वोली की अपनी विशेषताएं थीं।[1] ग्रियर्सन की धारणा एक दम अविचारणीय नहीं है। गढ़वाल के कुछ विद्वानों ने भी इस ओर संकेत किया है कि आर्यों के एक दल ने गढ़वाल से होकर प्रवेश किया था और उन्होंने वहां अपनी वस्तियां भी वसाई थीं। ये तथ्य भाषा की दृष्टि से वहुत महत्वपूर्ण ठहरते हैं।

§१२. दूसरी वात पहाड़ी भाषाओं के सम्वन्ध में उनकी एक और विचित्र धारणा से सम्वन्धित है। वे पहाड़ी भाषाओं को अपने वर्गीकरण में उदीच्या, प्रतीच्या, मध्यदेशीया, दक्षिणात्या और प्राच्या में कहीं भी स्थान नहीं देते। केवल अलग से उनका मूलाधार दरद पैशाची या खश उल्लेख कर उसे राजस्थानी की ही एक शाखा वताकर एकाध पंक्ति में ही अपना निर्णय दे डालते हैं। यही नहीं, वे गुर्जरों की भाषा को भी, जिसने राजस्थानी और गुजराती को प्रभावित किया (और जिसने उनके अनुसार वाद में गढ़वाली को भी प्रभावित किया) संदेह की दृष्टि से दरद ही मानते हैं।

यह स्थापना वास्तव में इस भ्रान्ति पर आधारित है कि गढ़वाल के निवासी खश थे। खशों को दरद माना जाता है और प्रागैतिहासिक काल में वे हिमालय के उन भागों में वहुत प्रभावशाली रहे हैं जहां की भाषा आज काश्मीरी, लहन्दा, शीणा, कोहिस्तानी आदि है। हिन्दुकुश और भारतीय सीमान्त का भाग दरदिस्तान कहलाता था और वहां के निवासियों को पिशाच कहते थे। पैशाची और दरद भाषाओं को लेकर

---

१ भारतीय आर्य भाषा और हिन्दी, पृ० ६३

यदि गढ़वाली बोली का तुलनात्मक अध्ययन किया जाय तो स्पष्टतः साम्य के बहुत कम आधार मिलेंगे । दरद मूल की बात तो दूर रही दरद प्रभाव भी गढ़वाली पर उस मात्रा में नहीं है, जिस में वह उदीच्या पर विद्यमान है । हिमालय में ज्यों-ज्यों हम पूर्व की ओर चले जाते हैं, यह प्रभाव कम दिखाई देता है । इस सत्य को ग्रियर्सन ने भी स्वीकार किया है और सम्भवतः डॉ० चाटुर्ज्या भी करेंगे । वास्तव में काश्मीर का निकटवर्ती क्षेत्र ही दरद भाषा का केन्द्र है, मध्य पहाड़ी और नेपाली उससे बहुत कम प्रभावित हुई है । दरद भाषाओं की ध्वन्यात्मक विशेषताएं उनमें नहीं प्राप्त होतीं । हां, पश्चिमी पहाड़ी पर अवश्य दरद प्रभाव है ।

खशों का प्रसार हिमालय में हिन्दुकुश से नेपाल तक था । इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता । किन्तु मध्य और पूर्वी हिमालय में वे उतने प्रभावशाली नहीं रहे जितने कि पश्चिम में (§४,५) । यदि सभी पहाड़ी भाषाओं का मूल दरद या खश ही होता तो उनमें बहुत बड़ी समानता होती । ठीक इसके विपरीत काश्मीरी आदि दरद भाषाएं मध्य पहाड़ी से बिल्कुल पृथक अस्तित्व प्रकट करती हैं ।

मध्य पहाड़ी के मूल के लिए अलग से एक प्राकृत की कल्पना भी भ्रामक है । ऐसा कोई नाम प्राचीन भाषा-ग्रन्थों में नहीं मिलता । उत्तर में बोली जाने वाली भाषाओं में पैशाची अथवा चूलिका पैशाची नाम आए हैं । मार्कण्डेय ने पैशाची बोलियों के तीन विभेद गिनाए हैं—कैकेय, शौरसेन और पांचाल । उसके अनुसार शौरसेन पैशाची शौरसेनी पर आधारित थी।[1] मध्य पहाड़ी भाषाएं वैयाकरणों द्वारा वर्णित चूलिका पैशाची या पैशाची के लक्षणों से मेल नहीं खातीं। वह शौरसेनी के निकट ठहरती हैं और जैसा कि ऊपर मार्कण्डेय का कथन है, यदि कोई शौरसेन पैशाची थी जिसका आधार शौरसेनी थी तो पहाड़ी बोलियों की जननी

---

१ डॉ० पिशल : प्राकृत भाषाओं का व्याकरण, पृ० ५४

भी उसी तरह की कोई प्राकृत रही होगी। किन्तु उसके आज कोई उदाहरण उपलब्ध नहीं हैं। ऐसा अनुमान लगाया जा सकता है कि शौरसेन पैशाची के समान ही शौरसेनी का कोई और उत्तरी रूप भी रहा होगा। वास्तव में मध्य पहाड़ी भाषाओं का उद्गम कोई खश या दरद प्राकृत नहीं है। वे सीधी शौरसेनी से सम्बन्धित रही हैं। स्वयं ग्रियर्सन ने भी, जिनके सामने सदा खश और दरद थे, मध्य पहाड़ी के सम्बन्ध में लिखते हुए इस सत्य को स्वीकार किया है। उनके द्वारा प्रस्तुत आधुनिक आर्य भाषाओं की स्थिति—निर्देशक—पट इस बात का प्रमाण है। डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने भी पहाड़ी भाषाओं का सम्बन्ध शौरसेनी अपभ्रंश से निर्धारित किया है।[1] यही नहीं उन्होंने ब्रजभाषा का अध्ययन करते हुए मध्य पहाड़ी के साथ उसके साम्य के अनेक उल्लेख किए हैं।[2] डॉ० उदय नारायण तिवारी ने भी उसे शौरसेनी प्रसूत माना है।[3]

पर ये स्वीकृतियाँ इतने धीमे स्वर में व्यक्त की गई हैं कि डॉ० चाटुर्ज्या द्वारा उत्पन्न भ्रांति ज्यों की त्यों बनी रही। इसमें कोई सन्देह नहीं कि खश और दरद भी आर्य थे। उनकी भाषा भी आर्यों से मिलती जुलती रही होगी, किन्तु भारत में उस भाषा ने पश्चिमोत्तर में जो रूप धारण किया उसका मध्य पहाड़ी से कोई साम्य नहीं। वैसे खश या दरद लोग पंजाब और बंगाल तक भी फैले, पर पंजाबी और और बंगला दरद भाषायें नहीं हैं। उसी प्रकार चाहे मध्य पहाड़ी क्षेत्र के लोगों को हम हठपूर्वक खश ही मानें, किन्तु उनकी भाषा खश या दरद कदापि न थी। वह शौरसेनी की ही कोई उपभाषा थी, जिसका प्रसार पहाड़ों तक था।

§१३. उत्तर भारत की सभी भाषाओं और बोलियों का उद्गम

---

१ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ० ४८

२ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : ब्रजभाषा

३ डॉ० उ० ना० तिवारी : भोजपुरी भाषा और साहित्य, पृ० १७१

स्थल मध्यदेश ही है। इस भू-भाग की सीमा का विकास यद्यपि बाद में बढ़ गया, किन्तु प्रारम्भ में केवल कुरु पांचाल और हिमालय प्रदेश के लिए ही इस शब्द का प्रयोग होता था।[1] यह प्रदेश अपनी भाषा के लिए सर्वोत्तम माना जाता था। समय की गति के साथ यहां की भाषा ने वैदिक, छांदस, संस्कृत पाली, शौरसेनी प्राकृत, अपभ्रंश आदि कई रूप ग्रहण किए। १० वीं अथवा ११ वीं शती में जाकर आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं विकास में आईं। मध्य पहाड़ी का विकास भी इसी क्रम में हुआ है। उसका उद्भव कोई आकस्मिक स्फोट नहीं है, वरन् वैदिक भाषा से शौरसेनी अपभ्रंश तक की सारी परम्परा उसमें समाहित है।

पीछे (§४) कहा जा चुका है कि वैदिक आर्य गढ़वाल से अपरिचित न थे। यह प्रदेश सदा से ऋषि-मुनियों की दृष्टि में रहता आया है। जनश्रुतियों और लोक विश्वासों के आधार पर ऐसे अनेक तपोधनों के नाम गिनाए जा सकते हैं, जिन्होंने तपस्या के लिए इस क्षेत्र को चुना था। महाभारत और पुराण ग्रन्थों में इस विषय पर विस्तृत सामग्री उपलब्ध है। बौद्धकाल में चुल्ल हिमवन्त ख्यात प्रदेशों में से था और बौद्धों का उस पर कम प्रभाव न था। वस्तुतः प्राचीन आर्य भाषा से गढ़वाल का सम्बन्धित होना कोई अस्वाभाविक और आश्चर्यजनक तथ्य नहीं है। आज भी गढ़वाली बोली में अनेक ऐसे शब्द उपलब्ध हैं जो वैदिक हैं और जिनका प्रयोग हिन्दी अथवा भारत की किसी अन्य भाषा में प्रचलित नहीं है। वास्तव में उत्तर की भाषा संस्कृत के बहुत निकट थी और बहुत बाद तक वह उस परम्परा को निभाती रही।

मध्यकालीन आर्यभाषा काल में जब अनेक उप—भाषाओं का विकास हुआ, तब पहाड़ों में उसका कौन सा रूप विद्यमान था यह

---

१ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : हिन्दी भाषा का इतिहास, पृ०

बताने के लिए प्रयाप्त सामग्री उपलब्ध नहीं हैं। किन्तु इतना स्पष्ट है कि प्राकृत भाषाएं जिस घनिष्ठता के साथ वैदिक बोलियों से सम्बन्धित रहीं, उसी सम्बन्ध का निर्वाह उन्होंने अपभ्रंश और नव्य भारतीय आर्य भाषाओं के साथ भी किया है। यद्यपि प्राकृत भाषा के मूल में संस्कृत के समान और बोलियां भी रही हैं; फिर भी संस्कृत का दाय प्राकृत भाषाओं को ही मिला और प्राकृत का उसकी परवर्ती भाषाओं को। गढ़वाली बोली में भी प्राकृत का दाय बहुत स्पष्ट है। शब्द, ध्वनि, रूप परिवर्तन, क्रियारूपों आदि में उसे आज भी पहिचाना जा सकता है।

सभी आधुनिक भारतीय आर्य भाषाओं की भांति अपभ्रंश गढ़वाली की जननी हैं। छठी शताब्दी के बाद मध्यकालीन भाषा विकास के तृतीय चरण में अपभ्रंशों का उदय माना जाता है। अपभ्रंशों में केवल शौरसेनी अपभ्रंश की ही प्रयाप्त सामग्री उपलब्ध है। इसलिए शौरसेनी अपभ्रंश से भिन्न भाषा बोलने वाले जनपदों की नव्य भाषाओं के उद्गम के सम्बन्ध में विचार करना सरल नहीं है। किन्तु गढ़वाल के सम्बन्ध में यह कठिनाई नहीं है। भरत मुनि के कथन के अनुसार हिमवत्, सिंधु और सौवीर में 'उकार बहुला भाषा' का प्रयोग होता था।[1] विद्वानों ने यह अनुमान लगाया है कि यह उकार-बहुला भाषा अपभ्रंश थी। ऐसा प्रतीत होता है कि हिमवत्-सिन्धु-सौवीर प्रदेश ही आरम्भिक अपभ्रंश का क्षेत्र था। डा० नामवरसिंह की स्थापना के अनुसार तीसरी शताब्दी में जो पश्चिमोत्तर की बोली थी, वही क्रमशः विकसित होती हुई मध्य देश और पश्चिमी भारत तक फैल गई।[2] इस तथ्य का समर्थन इस प्रकार किया जाता था कि अपभ्रंश को आभीरादि गिरा अथवा नागवाणी कहा गया है। नाग जाति के लोग हिमालय में बड़े प्रभाव-

---

१ हिमवत्सिन्धु सौवीरान् येऽन्यदेशान् समाश्रिताः ।
उकार बहुलां तेषु नित्यं भाषा प्रयोजयेत् ॥ (नाट्यशास्त्रम्)

२ नामवर सिंह : हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० २५

शाली रहे हैं। आभीर जाति का प्रसार समस्त उत्तर भारत में महत्वपूर्ण रहा है। आभीरादि में शक और गुर्जर भी अवश्य सम्मिलित रहे होंगे। इन्हीं आभीरादि के प्रसार के साथ आरम्भिक अपभ्रंश का भी प्रसार हुआ है। आभीर लोग उत्तर पश्चिम से आकर मध्यदेश में पहुंचे और फिर वहां से इधर उधर बिखरे।[1] उसी प्रकार गुर्जर भी उत्तर से ही आये थे।[2] इन सब विदेशी जातियों ने अपभ्रंश को संरक्षण और प्रोत्साहन दिया। ऐसी परिस्थिति में इन जातियों के प्रसार के साथ अपभ्रंश का प्रसार समस्त उत्तर भारत में हो गया। उस समय प्रचलित अपभ्रंश के कुछ भेदों का पता चलता है, किन्तु वास्तव में तब विभिन्न जनपदों की भाषा में कोई मौलिक व्याकरणिक भेद न रहा होगा।[3] यह तथ्य व्याकरणकारों द्वारा दिए गए 'शेषं शौरसेनीवत्' लक्षणों से पुष्ट होता है। इसीलिए यह मानना होगा कि शौरसेनी अपभ्रंश केवल शूरसेन प्रदेश की भाषा थी, असंगत है। वास्तव में मागधी, महाराष्ट्री, शौरसेनी आदि भौगोलिक वर्गीकरण ठीक नहीं बैठते हैं। उदाहरण के लिए महाराष्ट्री के सम्बन्ध में डॉ० मनमोहन घोष के अनुसंधान की ओर संकेत किया जा सकता है। अगर शौरसेनी महाराष्ट्र तक फैल सकती है तो उसके किसी रूप का अस्तित्व हिमालय में भी हो सकता है।

गढ़वाली आज भी उकार-बहुला लोक-भाषा है। नागों, शकों, गुर्जरों और आभीरों से गढ़वाल प्रदेश का ऐतिहासिक सम्बन्ध रहा है। इन आधारों और भरत मुनि के साक्ष्य पर कहा जा सकता है कि गढ़वाल में अपभ्रंश ही बोली जाती रही होगी। वह अपभ्रंश व्राचड़ या पैशाची रही होगी, यह स्वीकार करना कठिन है, क्योंकि एक तो इसका साहित्य उपलब्ध नहीं, दूसरी बात यह है कि व्याकरणकारों ने इनके

---

१ डॉ० शिवप्रसादसिंह : सूरपूर्व व्रजभाषा और उसका साहित्य पृ० ४७
२ डॉ० ग्रियर्सन : लि० स० इं०, जिल्द ९, भाग २
३ डॉ० नामवरसिंह : हिन्दी के विकास में अपभ्रंश का योग, पृ० ३०

जो लक्षण दिए हैं वे गढ़वाली बोली की ध्वनि और रूप तत्वों से मेल नहीं खाते । गढ़वाली का अगर किसी से घनिष्ट सम्वन्ध प्रतीत होता है तो वह शौरसेनी अपभ्रंश से। वस्तुतः इसी शौरसेनी अपभ्रंश का कोई रूप पहाड़ों में प्रचलित रहा होगा । आधुनिक गढ़वाली उससे किस रूप में सम्वन्धित है, इस विचार की पुष्टि आगे सम्भव है।

§१४. डॉ० चाटुर्ज्या की खश या दरद मूल की कल्पना इन्हीं आधारों पर अमान्य है। अब उनका और डॉ० ग्रियर्सन का यह कथन भी विचारणीय है कि गढ़वाली राजस्थानी से प्रभावित है। ग्रियर्सन का कथन है कि गुर्जरों ने सपादलक्ष (गढ़वाल) से भारत के अन्तर्वेद में प्रवेश किया और वहां से राजस्थान जाकर वे फिर गढ़वाल में आए। इस सम्बन्ध में कुछ प्रश्न उठते हैं—राजस्थान से वे गढ़वाल क्यों लौट आए ? यदि मुसलमानों के भय से पहाड़ों में चले आए तो क्या वे इतनी वड़ी संख्या में आए थे कि किसी प्रदेश की भाषा को प्रभावित कर सकें ? वास्तव में गढ़वाली और राजस्थानी के साम्य का कारण इस प्रकार राजपूतों का गढ़वाल भाग आना नहीं है। इस साम्य के कारण गुर्जर थे। स्वयं विन्सेंट स्मिथ ने भी स्वीकार किया है कि राजपूताना के राजपूत और हिमालय के लोग अपने रक्त में समान हैं।[1] पर स्मिथ यह भी कहते हैं कि गुर्जर (राजपूत, पँवार, सोलंकी, चौहान, प्रतिहार) ९ वीं, १० वीं शताब्दी में फिर हिमालय में फैल गए। इस प्रसार का जो कारण वे देते हैं वह थोथा और असंगत लगता है।

फिर भी इसमें सन्देह नहीं कि राजस्थान और गढ़वाल के लोगों में गुर्जरों, शकों आदि के कारण कुछ समानता रही है। इस समानता के कारण वाहर से आए हुए ये ही लोग थे जो हिमालय में प्रचलित भाषा को साथ लेकर गए। इस दृष्टि से अगर प्रभाव की वात कुछ अर्थ रखती है तो गढ़वाली बोली ने ही राजस्थानी को प्रभावित किया है।

---

१ उद्धरण, लिं० स० इ०, जिल्द ९, भाग ४, पृ० ११

अतः हमें डॉ० भंडारकर का कथन सत्य के अधिक निकट लगता है, जिसमें उन्होंने पूर्वी राजस्थानी को पहाड़ी हिन्दी में उद्भूत माना है।[1] स्वयं ग्रियर्सन भी गढ़वाली को राजस्थानी की एक शाखा कहने का मोह न छोड़कर भी, यह कहने को वाध्य हुए कि गढ़वाली अन्य पहाड़ी भाषाओं की अपेक्षा हिन्दी के अधिक निकट है।

इस सम्वन्ध में टर्नर[2] के विचार वहुत ही सुलझे हुए हैं। पूर्वी पहाड़ी के सम्वन्ध में लिखते हुए उन्होंने नेपाली को उसके मूल के लिए गुजराती. सिंधी, लहन्दा, पंजावी और हिन्दी के साथ सम्वद्ध किया है। ग्रियर्सन द्वारा प्रतिपादित राजस्थानी और पहाड़ी भाषाओं के साम्य को उन्होंने प्रभाव रूप में नहीं स्वीकार किया; वरन् उसका आधार उद्गम के उभयनिष्ठ पक्ष को घोषित किया है।

यह सत्य है कि गढ़वाली और राजस्थानी में कुछ साम्य हैं। किन्तु यह साम्य वहुत महत्वपूर्ण नहीं है। उदाहरण के जिए छ क्रिया को लिया जा सकता है। यह क्रिया राजस्थानी के अतिरिक्त दरद, वंगला और कई पूर्वी वोलियों में भी मिलती है। उसी प्रकार भूत और भविष्यत् काल का ला प्रत्यय मध्य पहाड़ी और राजस्थानी के अतिरिक्त भोजपुरी, वंगला, असमी. उड़िया, मैथिली, मराठी, गुजराती में भी उपलव्ध है। सम्वन्ध कारक के रा, रू री, प्रत्यय गढ़वाली की रवाँल्टी वोली में अभी सुरक्षित हैं; किन्तु वे राजस्थानी में ही नहीं वंगला में भी मिलते हैं। न का ण हो जाना केवल गढ़वाली और राजस्थानी में ही सम्भव नहीं, अन्य भाषाओं में भी ऐसी प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं। गढ़वाली की ळ ध्वनि राजस्थानी के समान अन्यत्र भी मिलती है। स का ह में परिवर्तन गढ़वाल के एक क्षेत्र विशेष में प्रचलित है किन्तु यही वात पूर्वी वंगला, सिन्धी, पंजावी, लहंदा, असमी, मराठी और पछाँही हिन्दी में भी है।

---

१ उद्धरण देखिये, लि० स० इं०, जिल्द ९, भाग ४, पृ० १२

२ नेपाली डिक्सनरी, भूमिका, पृ० १

वास्तव में राजस्थानी का उद्गम जिस शौरसेनी अपभ्रंश में खोजा जाता है, वही मध्य पहाड़ी का स्रोत भी है। दूसरी बात यह है कि हूण, शक, गुर्जर आदि लोगों के सहवास और प्रसार ने इन क्षेत्रों की भाषा को कुछ समानता दी है। मेरा तो यह भी विश्वास है कि छ और ला वर्गीय भाषाएं किसी समय अपने मूल में एक रही हैं अथवा वे किसी स्तर पर एक ही जाति के लोगों और उनके प्रसार से सम्बन्धित रही हैं। गढ़वाली बोली केवल राजस्थानी से ही साम्य नहीं प्रकट करती वरन् वह गुजराती, मराठी, अवधी भोजपुरी, बंगला आदि से भी मेल खाती है। इसके पीछे ऐतिहासिक कारण विद्यमान हैं। गढ़वाली पर मागधी प्रभाव भी कम नहीं है। यही कारण है कि मध्य पहाड़ी एक ओर राजस्थानी, गुजराती, पंजाबी आदि से और दूसरी ओर हिन्दी और उसकी बोलियों से निकट का सम्बन्ध रखती है।

§१५. इसी संदर्भ में गढ़वाली और हिन्दी के पारस्परिक सम्बन्ध की बात भी विचारणीय है। हिन्दी के विद्वान् पहाड़ी भाषाओं को हिन्दी की बोलियों में नहीं गिनते हैं। वास्तव में गढ़वाली हिन्दी समूह की बोलियों में आती हैं। वर्षों पहले केलॉग ने इस तथ्य को स्वीकार किया था।[१] यही नहीं जैसा कि पीछे (§१४) कहा जा चुका है, ग्रियर्सन ने भी गढ़वाली को हिन्दी के निकट माना है।[२] आज भी कुछ विद्वान् ऐसी धारणा रखते हैं; किन्तु खेद है कि पाठ्यक्रम में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकें एक पिटी-पिटाई परम्परा का निर्वाह करती जा रही हैं।

१ केलॉग : ए ग्रैमर ऑव हिन्दी लैंग्वेज पृ० ६६

२ लि० स० इं०, जिल्द ६, भाग ४, पृ० २८१

शब्द कोष



§१६. यह सभी बोलियों और भाषाओं के लिए सत्य है कि उनमें शब्द कई द्वारों से प्रवेश करते हैं। जहां तक गढ़वाली बोली का सम्बन्ध है, उसके लिए यह कथन और भी सार्थक है. क्योंकि गढ़वाल में अनेक जातियों का आवास रहा है, जिन्होंने समय-समय पर प्रवेश कर गढ़वाली को अपना शब्द समूह प्रदान किया। राजनैतिक संपर्क ने भी कुछ नए शब्द प्रदान किए। यह भी एक सामान्य तथ्य है कि प्रत्येक क्षेत्र के अपने ऐसे शब्द भी होते हैं, जिनका प्रयोग वहीं तक सीमित होता है। इसके अतिरिक्त ऐसी कोई आधुनिक आर्य भाषा नहीं है, जिसका शब्द समूह संस्कृत से न निर्मित हुआ हो। इस दृष्टि से गढ़वाली बोली का शब्द समूह निम्नलिखित स्रोतों से सम्बन्धित हैं और उसका स्थूल विभाजन इस प्रकार संभव है :

१. संस्कृत के तत्सम शब्द
२. संस्कृत के तद्भव शब्द
३. अनार्य भाषाओं के शब्द
४. आधुनिक बोलियों से उधार लिए हुए शब्द
५. देशज शब्द
६. विदेशी शब्द

विभिन्न स्रोतों से प्राप्त इन शब्दों को गढ़वाली बोली ने अपनी ध्वनि और रूप तत्व के अनुकूल इस प्रकार पचा लिया है कि वे अत्र

उसी के बन गए हैं। संस्कृत, अरबी, फारसी तथा अंग्रेजी शब्द इस प्रकार गढ़वाली की प्रकृति में ढले मिलते हैं कि वे विदेशी प्रतीत ही नहीं होते। यहां तक कि कई संस्कृत शब्दों में ध्वन्यात्मक परिवर्तन ही नहीं हुए वरन् उनमें अर्थ परिवर्तन के भी मनोरंजक दृष्टान्त मिलते हैं। उदाहरण के लिए **माया, कल्याण, मित्र, तस्कर, क्रिया, घात, सट्ठ**(शठ), **अपर्याद** (अपराध) **निखिद्द** (निषिद्ध), **मैंस, मण्स** (मनुष्य) **पोथलू** (पुत्र+ल) **करतब** (कर्तव्य), **चरित्र** (चरेत्र), **दारिका** (दारी) **गंगण** (गगन), **कौथीक** (कौतुक) **घीण**(घृणा), **छुंल**(छविल), **सोरो** (सहोदर) **बंठ्या** (वंध्या), **परवंस** (परमहंस), **कुरोध**(क्रोध), **निचन्त**(निश्चिन्त), **घट्ट**, आदि शब्दों को लिया जा सकता है। रवांल्टी में **घंण** का अर्थ दया होता है। संभवतः आरम्भिक संस्कृत में इसका यही अर्थ था। इसी प्रकार कई अरबी-फारसी शब्द भी अपने परिवर्तित अर्थों में प्रयुक्त होते हैं।

§१७. तत्सम और अर्ध तत्सम शब्द

गढ़वाली बोली में तत्सम शब्दों का आधिक्य नहीं है। उसका कारण ध्वनि सौकर्य की प्रवृत्ति प्रतीत होती है। फिर भी कुछ शब्द ज्यों त्यों के मिलते हैं :

असुख, अन्न, अस्त, अर्थ, अंगीकार, अवस्था, अमर, अवश्य, अत्याचार, अति, अंगार, अंधकार, असुर, (असूर), आशा, आज्ञा, आतुर, आदर, आनन्द, आधार, आचार, आश्रम, आयु, आत्मा, आकाश, आपत्ति; इष्ट, इच्छा, इति, ईर्ष्या, उद्धार, उरग (गुरौ), उत्पात, उदय, उत्तम; ऋतु, ऋण, एकान्त।

कति, कर्म, कन्या, कथा, कृपा, क्रिया, कंठ, कष्ट, कुंडल, कथा, कण, कंकण, कमल, काया, काल, कुंड, कपट, कल्याण, कुल, क्वाथ, कोण, कुशल, कृपाण, कुक्कुर; खण्ड, गंध, गुण, गीत, गोत्र, गर्भ, गौ, गुप्त, ग्रास, (गास), ग्राम, गते, गति, गंगा, घात।

चिता, चरण, चंचल, चिंता, चूर्ण, चित, छंद, छाया, छत्र, छवि, जन्त, (जन्तु) जन, जटा, जातक, जार, जग ।

तस्कर, तल, तन, तप, तरुण, तीर्थ, तृण, त्रास; दुःख, देश, दुष्ट, दशा, द्वार, दोष, दाता, दिन, दर्शन, दया, देह, द्वि, दान, दास, दिशा, द्यौ, दैव; धन, धार, धर्म, धातु, ध्यान, धरती; नष्ट नाश, विनाश (विणास), नित्य, नीति नगरी, न्याय, नर, नाम निद्रा, नाग ।

प्रतीति, प्रकाश (परगास), पशु प्रताप, पाखंड पर्वत, पितृ, पंथ, पुण्य, प्रसाद, प्रेत, प्रयाण, पूजा, पाप पातक, पंजर; फल, फेन, भांड, भुजा, भाग, भोग भेद, भाग्य, भाषा, भ्रष्ट, भाव, भार, भित्ति; मन, मान मांस, माता, मगल, मंद, मध्यम मन्त्र मति मुनि, मूर्च्छा, मग्न, मौन, मृत्यु, मुख, मुंड, माया, मण्डप माला, मूर्ति, मण्डल, मात्रा, मित्र, मूल, मुकुट, मन्दिर ।

रोप, रेख, रोग, रुचि, रोम, रास, रथ, रग, रण, राशि, रूप, राग; लेख, लीला, लग्न, लालसा, लोक; लेश लम्पट; वन वर, वज्र, व्यथा, व्यर्थ, वश वंश, वाचाल, वास्तूक विद्या, वीर, वासना (वासिना), विना, व्याह, विपत्ति, व्यसन वेदना, वर्षा, वाणी, विष, वलि, वचन, विचार, व्यंजन, वाधा व्रत, वस्त (वस्तु), वायु, वेश, वात, वेला, वार्ता, वाक् वाच् वैकुण्ठ; शोच शाला, शक्ति, शीत, शील, शरण, शूल शीश, श्रद्धा, शंख, श्यालो, शान्ति, शोभा, शिर, शेष; सत्कार सरल संताप, सागर, सध्य, सभा, स्तुति, स्नान, समर्थ, सत्य, साहस सिद्ध, शोभन्; सुन्दर, सार, संध्या, संग, स्वयं, संदेह समय, सुधार, संसार, सर्प, स्वामी, सेवा, समाचार, हार, हवन, हत्या, ज्ञान ।

§१८. तद्भव शब्द

वास्तव में तत्सम और अर्ध तत्सम शब्दों की अपेक्षा गढ़वाली में तद्भव शब्दों की संख्या ही अधिक है। आगे के ध्वनि विचार संवन्धी अध्यायों में तद्भव शब्दों की विस्तृत सामग्री उपयोग में लाई गई है। यहां

सूर्प > सुप्गे, सुधि > सुद्; सिंह > शिऊ, स्थूप > थुप + ड़ो, सीमा > स्यूं, सद्य > सैंदो, स्यात् > सैत्, संकीर्ण > सांगड़ो, संपुट > सांपुड़ो, सरसप > सरसू, सीवानी > स्यूणी, स्तोक > थोक, स्थौर > थोर + ड़ो, षाष्ठिक > साट्टी, हिंसा > हींस; क्षत > खतेणू । क्षेत्रपाल > खितरपाल, क्षार > खार, क्षुधा > छुद्या; क्षुब्ध > खुद्द ।

ये कुछ ही तद्भव शब्द हैं। हिन्दी में प्रयुक्त अधिकांश तद्भव शब्द गढ़वाली में भी प्रयुक्त होते हैं। उन्हें यहां सम्मिलित नहीं किया गया है। आगे ध्वनि और रूप तत्व पर विचार करते हुए गढ़वाली में व्यवहृत अन्य तद्भव शब्दों से परिचित होने का भी अवसर मिलेगा। तब यह अनुमान लगाना सरल होगा कि गढ़वाली में संस्कृत की शब्दावली कितनी महत्वपूर्ण है। इन तद्भव शब्दों की तुलना प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों से करने पर आश्चर्यजनक समता दृष्टिगोचर होती है। उदाहरण के लिए प्राकृत के निम्नलिखित शब्दों को लिया जा सकता है :

उब्भ, उद्ध, (गढ़वाली उब्बो); इस्सा (रिस्सा, रीष); ड्सि (इसि) डसीसी, अज्जू (अज्जी, जी, जिया, इजा) अल्ल (आलो), जइ (जै<यदा) तइ (तै—तदा) गरुअ (गरो), मउल (मौळणो), सुविण (स्वीणो), घरओल (—गृहगोली : घिराळो), णत्थि (नाथि) छुहा, छुहिय (सुधा > छोई); सअल (शकट : शऴ्ळ) कत्ति (कृत्तिः कतड़ा) जोन्हा (ज्योत्स्ना : जोन), सिंघाण (सिंगाणू) आदि ।

इसी प्रकार अपभ्रंश और गढ़वाली के बहुत से शब्दों के तद्भव रूप में बड़ी समानता है :

अच्छरा (आछरी), ओक्खल (उरख्यालू); कुम्पल (कोंपलू) खंभो (खामू); घाऊ, छईल (छैल), ठाऊ (ठौं). देउल (द्यूळ); नवल्लो (नौलू) ,पाओ (पौ), मउड़ (मौड़); वाउल (वौळू); विहाण (व्याणू) संझा, अग्घाणो उंबी (उम्मी), कडच्छू (करछुलू), कल्होड़ी, खणूसा, खल्ला, घग्घर चउक (चौक), चिल्लर, जोणलिया (ज्वनला), झंखरी (झंगोरो), डलो, राड़, रोट, लसक (लस, लीसो), थट्ट, तांत, थाती,

पणाल (पँडालु), वहुड़ि (बौड़ी), रेल्ल (रेलू), मुहाली (स्वाळी), हट्ट (हाट), खण (खणी), चक्कलक (चौकलो)।

भारतीय आर्य भाषा के मध्यकालीन विकास की लक्षण परम्पराएं गढ़वाली में ज्यों की त्यों सुरक्षित हैं। शब्दों में ही नहीं ध्वनियों; शब्द रूपों, समीकरण और व्यंजन ध्वनियों के लोप आदि के उदाहरणों में भी इस प्रकार के लक्षणों को देखा जा सकता है।

§१९. अनार्य भाषाओं के शब्द

यह पीछे कहा जा चुका है कि प्रागैतिहासिक युग में गढ़वाल कोल, भील, किरात, यक्ष,नाग,खश आदि जातियों से सम्बन्धित रहा है। इनमें कई जातियां आस्त्रिक थीं। गढ़वाल के रवांई प्रदेश में हरिजनों की एक जाति कोल+टा कहलाती है। उसी प्रकार भिलंगना नाम भील जाति की ओर संकेत करती है। 'केदारखण्ड' में भी हिमालय में भीलों का उल्लेख किया गया है।[1] वेद्या भीलों की एक जाति है। गढ़वाल में वेडा जाति के लोग आज भी मिलते हैं इसके अतिरिक्त गढ़वाली वीर गीतों में मालों का उल्लेख वीर पुरुषों के रूप में आता है। यह शब्द मूल रूप से मल्ल है। मल्लों का उल्लेख हमें बौद्धकाल से मिलता है। वे सम्भवतः शाक्य और मूलतः कोल या मुंडा वंश के थे।[2]

सबसे महत्वपूर्ण वात यह थी कि आस्त्रिक लोगों ने आदिम कृषि प्रणाली को विकसित किया था। खोदने की लकड़ी के लिए उन्होंने लग, लङ, लिङ शब्द का आविष्कार किया था। संस्कृत में हल के लिए लांगल शब्द का प्रयोग होता है। यह शब्द संस्कृत में इसी स्रोत से आया प्रतीत होता है। गढ़वाली में लुंगला शब्द प्रचलित है। यह जाति पंजाव और हिमालय तक फैली थी और नदियों की उपत्यका में रहती थी। नदियों के लिए गंगा शब्द का प्रयोग इन्हीं की देन है। गढ़वाल में

---

१ स्कंद पुराण; केदार खण्ड; अध्याय २०६

२ ई० जे० टॉमस का उद्धरण; हिन्दू सभ्यता; पृ० २३३

व्यक्तित्व वहुत विराट् रहा है। एक युग में वह उत्तर भारत की साहित्य भाषा और राष्ट्रभाषा रही है। गढ़वाल भी उससे अपरिचित न था। मोलाराम ने अपने काव्य की रचना व्रज में ही की थी। इससे भी आश्चर्य की वात यह है कि एक वार लोकगीतों का संग्रह करते हुए जव मैं रवाईं पहुंचा तो एक वुढ़िया ने, जिसने और जिसके पूर्वजों ने कभी अपने गांव से वाहर पैर न रखा था मुझे कई ऐसे गीत सुनाए, जिनकी भाषा व्रज थी। वाद में मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा कि वृज की अपनी एक प्रसार परम्परा थी और उसका क्षेत्र कभी सुदूर हिमालय तक भी रहा होगा।

विहारी और पूर्व की वोलियों से भी गढ़वाली का हलका लगाव प्रतीत होता है। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि कत्यूरी राजा पूर्व से संवन्धित थे। यह उनके ताम्रपत्रों और वंगाल के पाल वंशीय राजाओं के अभिलेखों के साम्य तथा हिमालय-विजय की घोषणा से भी पुष्ट होता है। कत्यूरी राजाओं को 'कुशली' (कोशली) कहा गया है। इस दृष्टि से मागधी अथवा अर्धमागधी प्रभाव और शब्दरूपों का गढ़वाली में होना अस्वाभाविक नहीं।

इस प्रसंग में दरद का उल्लेख भी हो जाना आवश्यक है। गढ़वाली में दरद या पैशाची के अनुकूल ध्वन्यात्मक परिवर्तन नहीं होते हैं। फिर भी दरद शब्दों का गढ़वाली में पार्श्व की जौनसारी तथा अन्य पश्चिमी पहाड़ी वोलियों के माध्यम से प्रवेश करना संभव है। एक विद्वान् ने ऐसे कुछ शब्दों की ओर संकेत किया है किन्तु वे संस्कृत शब्दों के ही तद्भव रूप हैं।

गुजराती, मराठी, पंजावी और वंगला[1] के भी वहुत से शब्द गढ़वाली में विद्यमान हैं। किन्तु शब्दों के इस साम्य के आधार पर कोई निश्चित वात नहीं कही जा सकती।

---

१ देखिए : अंगारा (मासिक) अंक १, नेगी का लेख।

§२१. विदेशी शब्द

विदेशी शब्द मुसलमानी और अंग्रेजी प्रभाव से आए हैं। गढ़वाल पर मुसलमानों का शासन नहीं रहा, पर दिल्ली दरबार से उसका संपर्क रहा ही है (दे० §८), जिसके फलस्वरूप अनेक अरबी, फारसी के शब्द गढ़वाली में घुस आए और जिन्हें बोलते हुए गांवों में रहने वाला गढ़वाली यह महसूस नहीं करता कि वे गढ़वाली के शब्द नहीं हैं। ये शब्द कुछ हिन्दी, उर्दू के माध्यम से प्रविष्ट हुए हैं, कुछ जन-संपर्क से और कुछ कचहरियों के द्वारा लोक में घुल मिल गए हैं। यहाँ कुछ उल्लेखनीय हैं :

अव्वल, अक्कल(अक्ल), असल, आलाचार (लाचार), अफसोस, अंताज (अन्दाज), इकत्यार (अख्तियार), ऐसान (अहसान), अर्ज, अदीट (अदावत), अमन, आजाद, असमान (आसमान), आदमी, आजुजी, आम, आस्ते (अहिस्ता), आसान, आखिर, आदत, आइनन्दा (आयंदा) आमद, आबरू, आराम, इमान, इलम (इल्म), इल्लाज (इलाज), इन्तजाम, इन्सान, करार (इकरार), इन्तजार, इमदाद; इलजाम, इशक, इजाजत, इज्जत इतफाक, इन्साफ, उमर (उम्र), उजर (उज्र), उस्ताज (उस्ताद), उमेद (उम्मीद), हुद्दा (ओहदा), ऐश, ऐना (आयना), औरत, औलाद, औजार; औकात।

कदम, कतल, कलेजो, काबू, कारगरी (कारीगर), कारबार (कारोबार), कैम (कायम), किसम (किस्म), कुदरत, किसम, कानून, कदर (कद्र), कसर, किस्मत, कजा, कसम, करामात, कर्ज, कीसा (किसह), कोऽत (कूवत) कैद, कब्जा, किमत(कीमत), कैदो (कायदा), कोशिश काफी कौम काबिल कुनबा कमबख्त कौल, कवाज(कवायद), कसूर, कबूल, कमीना, खून खूश (खुश), ख्याल, खैन्द (खाविंद), खबर, खपसूरत, खातिर, खातिर जमा रहना, खता, खैश (ख्वाहिश), खसम, खराब, खर्च, खामुखा (खामख्वाह), खुब्बी (खूबी), खाक, खाए, खजानू, खानदान, खैन्द (खाविंद), खप्ती (खफ्ती), खतम, खुशामद, खुलासा, खामोस (खामोश), खतरा, खिलाप, खैर, खिजमत;

(खिदमत) खुराक गुलाम, गुस्सा, गरज (गर्ज) गरीव गलत, गरूर, गश्त, गुनौ (गुनाह), गनीमत, गारद (गारत) मुश्गल (मुश्किल); गरदन, गरदस (गर्दिश), गैर, गुज़र, गर्दा, गुर्दा।

चीज, चुगली, ज्वानी (जवानी), जमात्, जमीन जनौर (जानवर), जागा (जगह), ज्यान (जान), जोरू, जखम (जख्म), जवान, जंगल, जुद्दो (जुदा), जैर (जहर), जोश, जरूरत, जवरदस्ती, जुम्मा, जुलम (जुल्म), जादा (ज्यादा), जिन्दड़ी, (जिन्दगी), जल्दी, जिकर (जिक्र), जमात, जरा, जवाव, जफत (जब्त), जांन्वेजां (जा-वेजा), जनानी, जेवर, झल्सा, (जल्सा), जोर, जिनस (ज़िन्स), जैंदात (जायदाद), जामो, जुल्फी।

तवाई (तवाही), तकलीप (तकलीफ), तजरुवा (तजुर्वा), तवेत (तवीयत), तमाशा, ताजुव (ताज्जुव), तमाम, तावेदार, ताकत, तेज़, ताल्लुक, तंग, तलव, तनख्वा, तलाश तारीफ, तकाज़ो, तरक्की, तरीका; तरप (तर्फ), तसल्ली, तरकीव, तासीर, तोफत (तोहमत), दव्तर दफ्तर), दैंसट (दहसत), दर्द, दम, दिल, दर, दशकत (दस्तखत), दुश्मन, दिमाग, दिक्कत, दस्तूर, दोस्त, डिगर (दीगर) दारमदार (दारोमदार), दरखास (दरख्वास्त), दफा, दुरस (दुरुस्त) दरम्यान, दर्यामद; (दरामद), दानो, दीन दुनिया, दरगा (दरगाह) दौंर(दौर), दाग, डौळ, नज़र, नशा; नसीव, नतीजा, निशान, नखरा, नसेत (नसीहत), नाजुक, नकल, नगद, निगाह; नाराज, नफा, नुकसान, नफरत, नेथ (नीयत), नागवार, नौवत।

पर्दा; पसन्द, पस्त, परभा (परवाह) परबस (परवरिश), परेज़ (परहेज़), पेच, पैदा, फरियाद, फौज़, फते (ह), फरमैस (फरमायश), फजूल, फर्ज, फोरन (फौरन), फैदू (फायदा), फकीर, फैसला, फरक (फर्क), फिसाद, फिरका, फलाणू (फलां), फिदना, फतूर; फजीतू (फज़ीहत), फरेव, फितरत, फिर्याशानी (परेशानी), फकत, फसल, वैम (वहम), वदमाश, वुन्याद (वुनियाद); वरतौ (वर्ताव), विगर,

(वगैर , वेहद, वेकूव 'वेवकूफ), वरगत, वुजरग (वुजुर्ग), वद्दी (वर्दी), वेहतर, वेगार, वेशुमार, वेशी, वयान, वैस, (वहस) वरदाश (वरदाश्त), वकशीश, वशर; वफा (वफा), वग्त(वक्त), वानू (वहाना), वरोवर, वाजी, वावत, ववाल, माफिक (मुआफिक)मातवर, मर्द मजा, मुश्कल (मुश्किल); मासूर (मशहूर), मोवत (मुहव्वत), मुलाकात, मैमान (मेहमान); मिज़ाज, मुसीवत; मौका, मुफत, मुलाजू (मुलाहजा) मजूर (मन्जूर), मुराद, मजाक, मंशा, मजवूत, मंसूवा, मजाल, माफ, मातात(मातहत), मालिक, मुताविक; मौज़, मतवल,(मतलव) मुकरिव (मुकर्रर), मुकाव्लू (मुकाविला), मलामत, मामली, (मामूली), मसल, मासूल, (महसूल), मुस्तेज (मुस्तैद), मदत (मदद); मुनासिव, मेनत मिनगत (मेहनत), मर्जी, मुलक (मुल्क), मलाल, मिसाल मर्तवा, मुकाम, मुनाफू, मुकद्दर, मालम (मालूम), मरम्मत (मरोम्मत)।

यकीन, याद, हयार (यार), रवत (रफ्त), रस्ता, रिश्ता, रैम (रहम) रिवाज, रंज, रकम, रौनक, लवज (लफ्ज , ल्याज (लिहाज), लैख, (लायक), लाजिम; लाश, ल्याकत (लियाकत), लाम, वजन, वारिस, वाजिव, वजै (वजह), वफा, वर्फ; सुक्कर (शुक्र), शरम, शर्त; शरीक, शरारत, शौक, शैर (शहर); शेक्की (शेखी), शकल शिकस्त, शोदा; शकस (शख्स), शक, शिकत; शामिल, सप्पर, (सफर), स्वाल (सवाल), सिरप (सिर्फ) सवर (सब्र); सुवा सुवहा ; सौदा; सो (ह) वत, सौलियत (सहूलियत) सवक; सर्दी; सगो (शऊर); सलेका (सलीका) सकल (शक्ल); सजा, हिकमत (हिम्मत हद्द; (हद); हराम; हमेश; हौसला; हर्ज; हुकम; हकमत(हकूमत); हमला; हासिल; हालत; हर्गिज; हुनर; हिसाव; हसूल (वसूल); हजाम; हैवान; हैसियत; हौम हरूप।

आरम्भ में इन शब्दों को ग्रहण करने में प्रयाप्त कठिनाई रही होगी। इसीलिए वोलचाल में वहुत से समानार्थी अनुवाद समास प्रयोग में आ गए। दर्द-पीड़; वीर-चादर; न्यौ-निसाव; ज्यू-पराण; अक्कल-मति; लाज शरम, आदर-खातर, हाल-समाचार, चीज-वस्त, खैन्द-गुस्सू ।

§२२. जहां तक योरोपीय शब्दों का सम्बन्ध है, वे भी हिन्दी या हिन्दी भाषा-भाषी लोगों के माध्यम से ही गढ़वाली में प्रविष्ट हुए हैं। इनमें से कुछ शब्द पुर्तगाली है, और कुछ अंग्रेजी :

अस्पताल; अपर, अपील, औडर. इसकूल, अफसर, निसपेटर, मिडिल, मास्टर; कुमेठी (कमिटी), परात, मेटिंग (मीटिंग), कल्लट्टर, डिप्टी, गिलास, गैस, जेल, लाट, पुलिस, टेम, टिगट, डवल, डौन (डाउन), लम्बर, तमाखू, लौट, (नोट), पलटन, पिनसिन (पेन्सन); फोटू; वटन, फेता, मशीन; फ्यासन (फैशन), माचीस, मिलट (मिनिट), मोटर, रूल लम्पू, होटल; सिगरेट, लेट, रेट, कण्टरोल, सुसैटी; रेडू, भोट (वोट , चांगस (चांस), डानस (डान्स) ।

§२३. देशज शब्द

देशज शब्दों के सम्बन्ध में निश्चय पूर्वक कुछ कहने की अपेक्षा केवल कुछ अनुमान लगाए जा सकते हैं। गढ़वाली बोली में अनुकार ध्वनि युक्त शब्दों का प्राधान्य है और यदि हम आरम्भिक भाषा की निर्माण की प्रक्रिया ध्वन्यानुकरण; अनुरणन और प्रतीकों पर आधारित मानें तो गढ़वाली देशज शब्दों के अनेक मनोरंजक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। ऐसे कुछ शब्दों का उल्लेख आगे 'अनुकार सूचक अव्यय' और 'अनुकरणात्मक धातुएं' § में किया गया है कुछ और शब्द यहां भी द्रष्टव्य हैं: कतमत, काई-त्राई; छंदमंद, सिंस्याट; चुंच्याट, भिभड़ाट; सतवत, खतवत; छुतवुत, लुतपुत; सुरसुर्‍या; कुरमुर्‍या; दणमण, छणमण, चचराणू ककड़ाणू, भुसमुस, लुड़क्यालू, फुरक्यालू, खळखळो; करकरो, जरजरो, दरदरो, चचकार।

शब्द निर्माण की यह प्रक्रिया स्पष्टत: प्रारम्भिक है। बहुत सम्भव है, इस प्रकार के शब्दों का सम्बन्ध गढ़वाल के मूल निवासियों से रहा हो।

ध्वनि-तत्व

ग्रादि रूपों में वोला जाता है। रवाई-जौनपुर क्षेत्र में अ ग्रो ध्वनि में ढलता प्रतीत होता है। जिला गढ़वाल की सलाग्गी उपवोली में वह ग्रौ हो जाता है। ग्रतः डॉ० धीरेन्द्र वर्मा ने गढ़वाली ग्र ध्वनि का उच्चारग्ग पूर्वी भाषाग्रों, भीली तथा मराठी के समान ग्रर्ध संवृत ग्रो ग्रथवा संवृत ग्रों बताया है।[1] यही नहीं, कहीं-कहीं तो अ ध्वनि ग्रए रूप में भी विकसित मिलती है, यथा डर : डँर।

ग्र का विलम्वित दीर्घ उच्चारग्ग (ग्रऽ) गढवाली में सामान्य है, जैसे कखऽ। उसी प्रकार ह्रस्व उच्चारग्ग(ग्र')भी व्यापक है। खड़ी वोली में यह ध्वनि लुप्त हो चुकी है, किन्तु हिन्दी की कई वोलियों में यह ग्रभी विद्यमान हैं। ग्रपभ्रंश में भी इस प्रकार की ध्वनियाँ मिलती हैं। वेदों में सम्भवतः ह्रस्व स्वर थे ग्रौर ग्र का उच्चारग्ग प्रतिशाख्यों के समय में ही ग्रति ह्रस्व रूप में होने लगा था।

ग्र ध्वनि हिन्दी में जव शव्द के ग्रन्त में ग्राती है तो व्यजन में प्रायः उसका उच्चारग्ग लुप्त हुग्रा मिलता है। गढ़वाली में ग्र व्यंजनों में भी संस्कृत के समान ही सुरक्षित मिलता है। ग्र कहीं निर्वल स्वर के रूप में ग्रवश्य दिखाई देता है किन्तु उसका सर्वथा कहीं लोप नहीं हुग्रा है। निर्वल ग्रॅ या तो तव उदासीन स्वर की तरह उच्चारित होता है या पूर्व स्वर के साथ मैत्री कर लेता है। व्यंजन के लोप हो जाने पर जव ग्र उद्वृत्त स्वर के रूप में रह जाता है तो उसके उच्चारग्ग का यही रूप होता है, जैसे; छादन>छाग्रग्ग>छाग्रॅन; घात>घाग्र>घौग्रॅ। पंजावी, ग्रवधी, व्रज, भोजपुरी ग्रादि में भी इस स्वर का ग्रस्तित्व मिलता है। जिन शव्दों के ग्रन्त में ळ, ङ या ग्ग ध्वनि ग्राती है, उनमें प्रायः निर्वल उच्चारग्ग के साथ ग्र श्रुति मिलती है, काग्रॅळो; राग्रॅग्गी, राग्रॅड़, वाग्रॅड़ो। इस प्रवृत्ति के दर्शन व्रज ग्रौर राजस्थानी में भी होते हैं।

---

१ डॉ० धीरेन्द्र वर्मा : व्रजभाषा, पृ० ४५

§२६. इ' अपूर्ण ध्वनि-सी है और अति ह्रस्व रूप में ही इसका प्रयोग होता है। अन्त्य इ' परवर्ती दीर्घ स्वर के संसर्ग में प्रायः उदासीन स्वर की तरह उच्चारित होता है। यह ध्वनि शब्द के प्रारम्भ, मध्य और अन्त, तीनों अवस्थाओं में पाई जाती है : इ'थैं, मै इ'त, खाइ'क, औन्दइ', दइत'।

§२७. उ के उच्चारण में गढ़वाली में ओठों को हिन्दी उ की अपेक्षा अधिक आगे बढ़ाना पड़ता है, पर बंगला की भांति इसमें ओंठ अधिक वर्तुल नहीं होते। इस स्वर की प्रवृत्ति इ॰ के समान फुसफुसाहट वाले स्वर में ढल जाने की ओर अधिक लगती है। अति ह्रस्व ध्वनि उ' भी उच्चारण में उ से ही संबन्धित है।

§२८. **ए, ऐ, ओ, औ** का उच्चारण सामान्यतः येइ', आइ' वो, ाउ' होने लगा है। ए की निर्बल ध्वनि एँ का उच्चारण कभी अर्द्धस्वर की भांति होता है, जैसे क्यॅक (केक); त्यॅल (तेल), ऍसो, ब्यॅटा ,वेटा)। अति ह्रस्व ए' का उच्चारण **ए** और एँ के बीच में पड़ता है, जैसे ए'ति; से'तु; मे'रो; स्ये', से'ट, वे'क्ति, त्वे', ज्वे', ले'। अपभ्रंश में भी यह ध्वनि विद्यमान थी; हेमचन्द्र ने इस ओर संकेत किया है।[1] प्राकृत में भी संयुक्त स्वरों के ह्रस्व रूपों के होने के प्रमाण दिए जाते हैं। संभवतः संस्कृत में भी इस प्रकार के उच्चारण का अभाव न था। यह माना जाता है कि इस प्रकार का उच्चारण साम्वेदीय शाखाओं में विद्यमान था।[2]

यही नहीं, गढ़वाल के कुछ भागों में ए ध्वनि या रूप में परिणत होती मिलती है : चेला>च्याला, केकू>क्यांकू, देश>द्याश। उसी प्रकार रवांल्टी उपबोली में ऐ ओई' या अइ' रूप में उच्चारित होती है, जैसे, वैरी>वोइ'री दैत्य>दइ'त, चैत>चइ'त। उच्चारण की यह परम्परा प्राकृत में भी मिलती है। **ए ऐ** के लिए अइ लिखने का विकल्प तब

१ का.देस्यैदोतोरुच्चारलाघवम्—हेमचन्द्र ४।४१०

२ डा० व्यास : संस्कृत का भाषा शास्त्रीय अध्ययन, पृ० २१८

गढ़वाली की र्, ड़, ल, ळ ध्वनियां परस्पर परिवर्तनीय हैं। वैसे र और ड़ का विनिमय बहुत ही विरल है। र का ल या ळ (न का ल भी जैसे प्राकृत में निम्ब : लिम्ब, गढ़वाली लिम्बू, लंबर, लोट) हो जाता है पर ल का र रूपान्तर संभव नहीं। र>ल के अनेक उदाहरण मिलते हैं, दरिद्र>दलेद्र, स्मरण>समळूण,निष्कर्म>निखलम, कंदरिका>कंडाली, शरीर>शरील। र और ल का यह विनिमय आकस्मिक नहीं है। विद्वानों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्राचीन काल में आर्य भाषा की तीन पृथक् शाखाओं में र, ल, ळ के पृथक् रूप प्रचलित रहे होंगे। बाद में एकीकरण से यह शिथिलता आनी स्वाभाविक थी।

ल्ह, म्ह, र्ह, न्ह आदि महाप्राण ध्वनियां सहसा नवीन नहीं हैं। कम से कम परवर्ती अपभ्रंश में ये विद्यमान थीं।

§५७. गढ़वाली में श् और स् दोनों ध्वनियां मिलती हैं। ष् की परिणति या तो श, स में हो गई है या उसका उच्चारण ख रह गया है। ष का ख उच्चारण संस्कृत काल में ही हो गया था।[1] गढ़वाल के ब्राह्मण आज भी संस्कृत ष का उच्चारण ख रूप में ही करते हैं। श और स गढ़वाल में दोनों ही उच्चारण मिलते हैं किन्तु कुछ भागों में लोग केवल श को ही बोलते हैं फिर स को ही। रवाई और कुमाऊं के सीमावर्ती गढ़वाली क्षेत्र में स भी श हो जाता है, शेष भाग में लोग श का उच्चारण भी स ही करते हैं। रमोली, उत्तरकाशी आदि क्षेत्रों में स ह में परिवर्तित हो जाता है। सिन्धी, राजस्थानी, पछांही, हिन्दी, असमी और पूर्वी वंग का बंगला, मराठी आदि में भी यह प्रवृत्ति मिलती है।

§५८. ह ध्वनि सघोष और अघोष दोनों हैं। अघोष ह्, विसर्ग रूप में संस्कृत में विद्यमान था। संस्कृत के विसर्ग युक्त शब्द ओकारान्त (या उकारान्त) होकर गढ़वाली में आए हैं। उनमें ओ ध्वनि के पश्चात्

---

१ डॉ० व्यास : संस्कृत का भाषा शास्त्रीय अध्ययन, पृ० ११४

ह् ध्वनि अपने पूर्ववर्ती ध्वनि से मिली हुई आज भी स्पष्ट सुनाई देती है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं: उर्ध्वः>उव्वोह्, नौनोह्, वाळोह्, गौड़ोह०। यह ध्वनि राजस्थानी और गुजराती में भी पाई जाती हैं।

शब्द के प्रारम्भ में ह ध्वनि प्रायः सुरक्षित रहती है। ख्वांल्टी में ऐसे उदाहरण अवश्य मिलते हैं, जहां प्रारम्भ की महाप्राण ध्वनियां अल्पप्राण हो जाती हैं, यथा, भूमि>वुई, भाई : वाई। यह प्रवृत्ति संभवत वैदिक संस्कृत में भी थी। गढ़वाली में पदान्त की महाप्राण ध्वनि अल्पप्राण होकर ही रहती है, जैसे, व्याघ्र>वाग, सांझ : सांज। पर यह नियम केवल सघोष ध्वनियों पर ही अधिक लागू होता है।

मध्य की महाप्राण ध्वनियों में कभी हकार का लोप सा मिलता है। । अवस्था में ह अपने पूर्व वर्ण से मिल जाता है, यथा, जहर>ज्हैर, हर>ऱ्हैर, सहज>स्हैज, वहिर्>भैर; दुहिता>धिया। वहां वह पने पूर्व वर्ण में महाप्राणत्व ले आता है। किन्तु इससे भी एक भिन्न स्थति वह होती है, जहां हकार का लोप वर्तनी में तो हो जाता है किन्तु उच्चारण में उसका अवस्थान सूचित होता है। ऐसी ध्वनि को डॉ० चाटुर्ज्या ने आश्वसित या पुनद्रुंत कहा है और उसे ['] रूप में प्रकट करने की विधि अपनाई है।[1] गढ़वाली में ऐसी ध्वनि के अनेक उदाहरण हैं : दहन>द'न, प्रहर>प'र। इस प्रकार हकार के लोप से स्वर-विन्यास वदल जाता है।

सत्य यह है वाहरी शाखा की भाषाओं, विशेपतः पंजावी, हिन्दकी गुजराती, मराठी, वंगला, राजस्थानी, उड़िया और पहाड़ी में महाप्राण एवं हकार के विभिन्न रूप मिलते हैं। गढ़वाली में अनेक शब्दों पर हकार का आगम भी हो जाता है (देखिए : § आदि स्वर)। हकार की विकृति की दृष्टि से डॉ० चाटुर्ज्या ने भारतीय आर्य भापाओं को

---

१ डॉ० सुनीतिकुमार चाटुर्ज्याः राजस्थानी भापा, पृ० २४

गढ़वाली की उप बोलियां



§१८८. श्रीनगर और उसके आस-पास बोली जाने वाली गढ़वाली आदर्श मानी जाती है। इस क्षेत्र से बाहर गढ़वाली बोली के अनेकानेक भेद मिलते हैं। ग्रियर्सन ने गढ़वाली को आठ उपबोलियों में विभक्त किया है: श्रीनगरी, वधाणी, दसोल्या, मांझ कुम्मैया, नागपुरिया, सलाणी, राठी, टिहरयाली।[1] वैसे इतने अधिक भेद बहुत स्पष्ट नहीं किन्तु छोटे-मोटे अन्तरों को विभाजक माना जाय तो टिहरी जिले की बोली (टिहरियाली) को और कई उपबोलियों में विभक्त किया जाना चाहिए था। उसके मुख्य ये भेद ठहरते हैं—टकनौरी-बाड़ाहटी, रमोल्या, जौनपुरी, रवांल्टीं, बडियारगड्डी, टिहरियाळी (टिहरी नगर के आस-पास बोली जाने वाली माजित गढ़वाली)। किन्तु हमारी दृष्टि में इतने अधिक विभेद करना युक्ति संगत नहीं है। टिहरी जिले की गढ़वाली के दो भेद ही प्रयाप्त है: गंगाड़ी और जौनपुरी-रवांल्टी। गंगाड़ी और जौनपुरी नाम हमने गंगा और जमुना (यमुना>जौन) नदियों के आधार पर दिए हैं। वास्तव में पहाड़ो में गंगा और यमुना के तटों पर भाषा और संस्कृति का विकास दो भिन्न रूपों में हुआ है। सम्भवतः इनके तटों पर बसने वाले लोग भी भिन्न-भिन्न थे। गंगा प्रदेश की भाषा यमुना प्रदेश से काफी भेद प्रकट करती है। जौनपुर और

---

१ डॉ० ग्रियर्सन: लि० स० इ०, जिल्द ६, भाग ४

रवांई यमुना क्षेत्र में पड़ते हैं। इस प्रदेश की भाषा पर जौनसारी, हिमाचली आदि का प्रभाव अधिक है। यह प्रभाव यमुना के उद्गम पर उतना नहीं जितना ३०-३५ मील आगे चलकर है। इसके अतिरिक्त इस प्रदेश की भाषा में संस्कृत शब्दों में ऐसे तद्‌मव रूप मिलते हैं, जिनका प्रयोग अन्यत्र नहीं मिलता। उच्चारण में अ, ओ हो जाता है, ऐ, ओइ, स, श और ल ड़। महाप्राण ध्वनियां प्रारम्भ में भी अल्प-प्राण हो जाती है। क्रिया के दो वाले रूप कम प्रयोग में आते हैं, जैसे, कहां जाता है—सामान्य गढ़वाली में : कख जांदो; पर रवांल्टी जौनपुरी में—कोकी नठ। सहायक क्रिया छ का प्रयोग भी विरल है। बोलने के लहजे में रवांल्टी-जौनपुरी में स्वराघात और आरोह-अवरोह का महत्व-पूर्ण स्थान है। सम्बन्ध कारक में ए, रा, रे विभक्तियाँ प्रयोग में आती हैं।

§१८९, टिहरी के रमोली तथा उत्तरकाशी क्षेत्र में स ह में परिवर्तित मिलता है। टिहरी के आस-पास भूतकाल में छौ सहायक क्रिया की अपेक्षा थौ का प्रयोग होता है। उसमें संगीतात्मक स्वराघात की प्रवृत्ति भी अधिक है। चन्द्रवदनी के मुसलमान चुरेड़ तो इस लहजे में बोलते हैं कि लगता है जैसे गद्य में ही कोई गीत गा रहे हैं। भरदार और बडियारगढ़ क्षेत्र की बोली श्रीनगरी के अनुरूप है।

§१९०. गढ़वाल की उपबोलियों के उच्चारण में प्रयाप्त अन्तर दिखाई देता है। कुमाऊं और गढ़वाल के सीमावर्ती क्षेत्र के लोग [जिन्हें दोसांती (<देशांतिक) कहते हैं] एक मिली–जुली भाषा बोलते हैं।

§१९१. पौड़ी गढ़वाल की उप-बोलियों में ए ध्वनि या हो जाती है : देस : द्यास और ओ वा—घोड़ी : घ्वाड़ी। उसी प्रकार अ ऐ रूप में उच्चारित होता है : गणीक : गैणीक। मध्यग र् प्रायः समीकृत हो जाता है : मारला : माल्ला। करला : कल्ला, करणू : कन्नू। सहायक क्रिया के रूप में तो का प्रयोग भी मिलता है। क्रिया प्रायः एकारान्त हो

जाती है : गैन : गैने, लड़ीन · लड़ीने। अ ध्वनि आ, ओ॑,अ॑ या ऑ रूप में मिलती है : घर : घॅर, घार, घॉर, घो॑र; वड़ा : वो॑डा। यही नहीं, सलाणी आदि में दीर्घ ध्वनियों की प्रवृत्ति ह्रस्व की ओर मिलती है, जैसे जमाना : जमनो। इसके विपरीत कहीं ह्रस्व ध्वनियां दीर्घ हो जाती हैं : छयो=छायो, गयो : गाय। टिहरी के औणू, बुलौणू आदि रूप पौड़ी क्षेत्र में आणू, बुलाणू आदि हो जाते हैं। कर्ता का परसर्ग न ल रूप में मिलता है और कर्म या सम्प्रदाय में खुणो परसर्ग आता है जो कभी गणो भी हो जाता है। सर्वनाम में एकाध क्षेत्र को छोड़कर मी रूप में प्रयुक्त होता है। ये विशेषताएं टिहरी गढ़वाल की उपवोलियों में नहीं हैं।

§१९२. गढ़वाली वोली के इन अवान्तर भेदों के कारण ऐतिहासिक और भौगोलिक दोनों रहे हैं : यातायात की वाधा, दुर्भेध्य पर्वत और नदियों के घेरे में गढ़वाल अनेक छोटे भागों में वंटने को वाध्य रहा है। फलतः उनमें भाषा का विकास स्वतन्त्र रूप से हुआ है। इसके अतिरिक्त प्रत्येक क्षेत्र की वोली में कुछ स्थानीय विशेषताएं ऐसी भी मिलती हैं कि यह मानने को जी होता है कि उन क्षेत्रों के वसने वाले लोग विभिन्न जातियों के रूप में आए होंगे। ऐसा प्रतीत होता है कि गढ़वाल में कई जातियां आईं और वसीं और गढ़वाली भाषा को उन्होंने अपने उच्चारण में ढालने की कोशिश की। इनमें गुर्जर, खश, शक, किरात, कोल, भील, नाग आदि मुख्य रहे होंगे। और यदि यह माना जाय कि मध्यकाल में भी अनेक जातियां राजस्थान आदि से भागकर गढ़वाल आईं (जिसके पुष्ट प्रमाण नहीं) तो मानना पड़ेगा कि वे भी अपनी भाषाओं की प्रवृत्तियां लेकर आई होंगी। इस दृष्टि से गढ़वाली और राजस्थानी, भीली, गुजराती, मराठी, वंगला आदि तुलनीय हैं।

§१९३. यहां गढ़वाल की उपवोलियों के कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं जो 'लिंग्विस्टिक सर्वे ऑव इण्डिया' (जिल्द ९, भाग ४) से अंश

रूप में उद्धृत किए जा रहे हैं।

श्रीनगरी : कै आदमी का द्वी नौन्याळ छया ऊंमान छोटा नौन्याळ न अपणा बाबाजी मा बोले : हे बाबा जी, विरसत मान मेरो जो हिस्सा छ मैं सणी दे देवा। तब ऊंन अपणी विरसत वांट देये।

राठी : कै मनख का द्वी लौड़ छाया। ऊंमा नान लौड़न बाबू गणी वोल कि यार बाबू जो कुछ चीज वस्त मांयन वांटो मी गणे दे। तव वैल ऊँ गणी जो कुछ चीज छई वांट देयँ।

बधाणी : कै आदमी का द्वि छिचौड़ी छिया। उनू मधे नाना छिचौड़ी न अपणा बुबा जी मू बोलो कि हे बुबा जी माल असबाव मैं मेरी बाँट मै सणी न्यारो दे दिया। तब वैल असबाव बांटी दियो।

दसौल्या : कई आदमी का दुई लड़ीक छया। तनू मा काणिसा न बोलो हे बुबा माल मांगन की जो मेरो वाँटो होव सो मैं देवा। वेका बाबू न वाँटो दिन्यो।

नागपुरिया : कै बैख का दुई लौड़ा छया। तौं मधे लुड़ा लौड़ान बुबा ले बोले हे बुबा, जो मेरो वाँटो माल को सो मै दे। तव बुबान वें कणी वाँटो दे दिने।

सलाणी : कै भणा का दुई नौना छया। ऊँ मा काणसान अपणा बुबा मा बोल्यो, हे बुबा जी, माल ताल मा जु मेरो बाँटो होव सो मीं दी देवा। तब वैंन ऊँ का बीच अपणो माल ताल बाँटी दिने।

टिहरियाली : एक भणा का द्वी नौन्याळ थया। ऊँमान कणसान अपणा वुबा मा बोले कि हे बाबाजी, जु विरसत को बाँटो मेरो छ मै दी द्या। तव वैंन विरसत ऊँ सणी बाँटी दिने।

ग्रियर्सन द्वारा संकलित कुछ उद्धरण मुझे उच्चारण की दृष्टि से ठीक तरह से अंकित नहीं प्रतीत होते। उदाहरण के लिए पौड़ी गढ़वाल की कई उपबोलियों में मेरो शब्द म्यरो या म्यारो और बोले ब्वाले रूप में उच्चारित होता है। उच्चारण की दृष्टि से नीचे के

ये उद्धरण दर्शनीय हैं।[1]

टिहरी–श्रीनगरी : एक बगत मा द्वी नामी जोधा छा। एक पूरब का कोणा मा अर दोसरो पच्छिम का कोण मा रन्दो छौ। एका को नाऊं सुणीक दोसरा घर जन्ति आग लग जांदीं छइ। एक का डेरा से दोसरा का डेरा जाणा मा बार बरस को बाटो हिटणो पड़दो छौ।

रवांई–जौनपुरी : यक्क समँयँ दू बेग्या वांक्का वीर हाँ। यक्क पूरब छोड़्ड हैक्कू पछिम छोड्ड रौं। यक्का कु नौं सुणी, हैक्कू जड़ी फुक्की जाऊं। यक्का का दार सि हैक्का का दार जाण मु यक्क जुग कु वाट्टू हिटण पड़ो।

चौंदकोटी–सलाणी : एक वैन मा दुई भारी नामी भँड़ छाया एक पूरब मा हैक पच्छिम मा रैन्द छायो। एक को नाऊं सुणी हैक फुकेइ जान्द छयो। एक का घार ना हैक्का घार जाण मा बारा साल को वाट्ट हिटणू पड़दो छायो।

इसमें भी टिहरी (नगर के आस-पास) की बोली का रूप नहीं आया है, जिसमें छ के स्थान पर भूत में थ क्रिया का प्रयोग होता है।

भाषा के उच्चारण की नजाकत, लहजे और शैली की दृष्टि से ये उदाहरण विनोद की सामग्री प्रस्तुत करते हैं :[2]

वधाणी : कुण कत्ति हुन्यार ह्वँगे।

सलाणी : मिल च्वाल दादु रे, च्वारी पर कपन्यार (कंप्वाण) चढ़ि ग्याया; ढमके वजाति डौंरो।

जौनपुरी : को की जां रे म'ता। उ'डि ओ रे।

वजारी–श्रीनगरी : नौनों का वावा जी पौ भर वासमती लाई छया। आज वी पकाए। द्वी फूल तौंन खाइने, द्वी मैंन; घोड़ा नौन्याळून

---

१ राहुल सांकृत्यायन : हिमालय परिचय (१) गढ़वाल, पृ० २८८

२ चक्रधर बहुगुणा : गढ़वाली साहित्य की भूमिका; पृ० ६१

भी खैन । बाकी सारी डेगची बचीं छ ।

टिहरियाली-बजारी : अलो गैल्या, मैं चल्या जैं रैं थौं । निन्याल का घुटणा उतार पर खचपचैं गैं था, पर चलण मा मजा ऐ रई थौ ।

रागसी : खकान खाकड़ी का झाड़ वाला खाफळ का तळ खाकड़ मारे । (क>ख) ।

रवाँल्टी का बहुगुणा जी ने जो उदाहरण दिया है वह रमोली उत्तरकाशी की बोली के लिए ठीक पड़ता है, रवाईं की नहीं । रमोली की बोली का एक उदाहरण लीजिए ।

बल हैं लो काका, प्हैले हीदो हीदो जाण, तब हुरु इ हुरु, तब हड़की हड़की । हैं ली न्याळी, तु नांदी कैह् नी । (स>ह)

§१६४. एक ही शब्द के उच्चारण और रूप में गढ़वाली की विभिन्न उपबोलियों में अन्तर के मनोरंजक उदाहरण मिलते हैं । यहां काले टाइप से ऐसे शब्दों की ओर इंगित किया गया है । कोष्ठकों में अन्यत्र प्रयुक्त रूप दिए जा रहे हैं ।

१. जौ जस **देने** (द्यान, देया) धरती माता ।
२. क्या **छयां** (छवा, छा, छन) बुबा जी निन्द सुनिंद ।
३. **दे** (दी) **देवा** (द्या) बाबा जी कन्या को दान ।
४. रैमासी **घ्वे** (कु; फो) फूल कविलास ।
५. चौपाती ह्वे **ग्याय** (गैं, गए) नैं डाळी पैयाँ जामी ।
६. लुकारी ब्वरियोंन चौ नाळी **कूट्यन्ने** (कूटिन) ।
७. भोरलि पंछी ब्वे, वासण **लैने** (लैन, लैगिन) ।
८. परगट ह्वै **जैन** (जान, जाया, जायन) पांच पंडऊं ।
९. चन्द्रागढ़ मा **रैन्द** (रौंद, रंद, रांद) ओ सूजु सुनार ।
१०. जा भुलि स्वांरी मन्यारी आयां **छौ** (छन) ।
११. ढेवरा **लुकदीन** (लुकदान, लुकदा, लुकदन) ।

१२. मैं (मौ, मनि) बोलणू (बोन्नू, बोळनू) छौं ।

१३. मुंडळि खुरसेगे व्वे (वोई, वई) मजुरी फैं फैं फी (कैक, करीक) ।

१४. मैं घोर (घॅर, घौर, घार) गौं (गयूं) ।

१५. तुम मनखी छैं (छा, छयाई, छन), हम पशु छौं (छवां, छां) ।

१६. तुम जाणा होला (ह्वला, ह्वाला, ह्वैल्या) ।

१७. सैरी (सैडी, सरी) रात डग्रॅर (डेर, डौर) लगणी रैं (राये) ।

१८. मेरो (म्यारो, म्यरो भैं छौ आयूं ।

१९. उ घर जैं रैं थान (छा) मैं भी गैल घो ।

२०. बेल (वै-न) गौं तैं घास देये (दिने) ।

२१. मीन त्यारा डयारा नी आण (ओण) ।

२२. तै बोज (व्वाज, व्वॅज) म्वीं धरदे ।

आगे के परिशिष्ट में हम इन उपबोलियों के साहित्यिक रूपों की चयनिका दे रहे हैं। गढ़वाली में साहित्य रचना टिहरी-श्रीनगरी में ही हुई है। इस भाषा का साहित्यिक रूप मिश्रित है। वास्तव में टिहरी (नगर) और श्रीनगर की गढ़वाली में कुछेक क्रिया रूपों के अतिरिक्त कोई बड़ा भेद नहीं है ।

चयनिका



रवांई-जौनपुरी

(१) छोड़ दे बौंर[1] राती को इटणो[2], बोइरी[3] काटला चोर,
बाड़ी[4] जिकुड़ी तेरी जाली, मेरेॐ लोवी ओन्द[5] ओर।

(२) तेरोॐ मेरोॐ शौंगिय[6] लोड़ड़ी ओरेर साता,
पारो वाजिय टोपिन्द बीच पड़ दैइन्त[7] सांपा।
सांपेर[8] नाईं मुंडकी पोरू देउले काटी,
आऊँ[9] चाइंथ दीटु ताऊँ[10] चाइंथी दिएरी बाटो[11][1]।

—गढ़वाली लोकगीत

(३) राति रैण खुलि, सिया बिजौंदी लागी,
पैर गलमुती हार, चूंगे रैका विकार।
नशी पाणी पणार, देखे शुना को मिर्ग,
सिया लागी बडरी वार, सिया अजबी नी आई।
तु जा लखण बाई, क्या लागी बडरी वार,
की भनी तामैं घलूड़ी, की तोड़ी गलमुती हार।

---

१ भौंर, २ हिटणो, ३ वैरी, ४ बाळी, ५ होन्द, ६ संगी, ७ दैत्य, ८ सांप का, ९ मैं, १० तू, ११ बाती।

१ डॉ० गोविन्द चातक : 'गढ़वाली लोकगीत' से उद्धृत।

तवरे की सिया पोंछी ग्राइ राम लाइ वोल,
'पाणिकै शुना मिर्ग, एशे जांगिय ग्राण ।'
'तेरा फूचे धंध, शुना का मिर्ग न हुन्द ।'
'कस वताऊँले साखी, देखे ग्रापड़ी ग्रांखी ।
जांगि शुना मिर्ग, ताऊंख मारवाड़ी पाग,
मुख ग्रांगूड़ी घाघुरी, टोपली लखणार भाग' ।[1]

—सीता हरण

श्रीनगरी

भैर भैर कड़ी वण्यां रंदन वुलेन्द काठी खरोट ह्वला पर भिन्न हाय रे पापी पराणी ! मरे रांड वल खट्टा विगर । यूं को ज्यू वोल्द कि छुयां जनि कै नखरयाली ग्रर दुंदर वांद सणि चौथरा मां घोटिइ पे जॉदा छा त कनो छौ ।.. चा घोती कुतरण्या वणी होव ग्रर जन्यी पर जुवां पड़्यां होवन, पर इ सुद्दि जै कैका हात भात नि खांदा । गुर्जी को सैंडो जीवन लोखू का व स्ता खपणू छ । पांच ग्राना का वाना ग्राप जावन दीं वल दोफराग्रँ घमोऽ उकाळी का वाटों चार-चार, पांच-पांच मैल दूर जै सकदन ? कव्वि ना, पर फलाणा गुर्जी जांद छन । जवरि तै फलाणा गुर्जी का पुराणों कू जमानू छयो मनखी त रया इ पर जु कवि ग्रन्यो-ग्रपरयाद होणू छ त घवता घै लगौन्द छया ।[2]

—फलाणा गुर्जी

समै वदलेणू रैंदऽ ग्रो वात पर न जाणे किलै मन्नि विश्वास नी होंदो । जवि-कवि मनि तन्नि वित्यां दिनू की याद ग्रौन्द त मन्नि सोचदू—समै नी ग्रदल्दो हम ग्रपवीं वदली गयां । फेर वी ग्रनासुतं म्यैरा ग्रांत्यों का साम्णे एक तसवीर ऐकी रिंगण वैठि जांदऽ छनीं वरयून, पर

१ डॉ० गोविन्द चातक : गढ़वाली लोक गाथाएं (मं.हिनी प्रकाशन, राजपुर रोड देहरादून) पृ० १०७

२ प्रबोध बन्धु बहुगुणा, 'देवभूमि' १० ग्रगस्त ५६ से उद्धृत ।

बिल्मौण की अळभौणी मा मनि अपवी अळजी जांन्दू ।[1]

—मगना प्वीं

हां, यात दुनिया च भैंजी ! अटकी चला त लोक धुरचा गणदन, निसोळी चला त सीलो । तुम कन्नी भी चला घड़ा को मुख बुजेई सकेन्द घण्यासा कू ना । कै-कै तैं त दोष देला ! यख दूदौ धोयूं कु छ ? सब्बी उन्नी छन । लंका मा बल जु सबसे छोटू वो बावन गज । सबू तैं अपणी अपणी छ पड़ीं । तवा कीं तेरी अर भाड़ की मेरी । तेरो ढाकरीं घॅर आन न आन पर मेरी लोण ङळीं ऐ जावो । मेरो हॅळ लगीं जावो चा तब वाढ़ी का बल्दू तैं बाग ली जावो । हैका की आनाचारी तैं कु देखद ? दिदा मर चा भुला, बल मैन मिछौळी जरूर खाण ? बल बिराळी क्या जाण पूजा को दई ? दुनियां द्वी हातुन बटोळणू जाणदीं । बल तुम हमारा डेरा आला त क्या ल्याला अर हम तुमारा डेरा औला त तुम क्या देला । सुण्याले इनी छ दुनिया तुमारी ।[2]

—क्या गोरी क्या सौंळी

छुम् घंघरू बाजला

ताछुम् ताछुम् ताछुम्, छुम् घंघरू बाजला,
हरीं भरीं देवद्यूळि, दमौ–ढोल गाजला !
चमकदार लाल द्यूळि, डांडयों की चूमद चूळि,
हरीं उथैं देव-द्यूळि, दमौं–ढोल बाजला !
भेंट पाती लैकी ढेर, गांदी छन मांगळेर,
पसुवा करद हेर-फेर, घंटा-घन बाजला !
कुणजौ का घणा बोट, पैकी तरजोट ओट,
बाळ दियो धर दिपोट, हाथ न कर काजला !
देवतौं की पुण्य थाति, पैंय्यां की झुक्क पाति;
आयौं मैं देखि जाति, ध्वज चमर डोलला !

---

१ मगना प्वीं : दामोदरप्रसाद थपलियाल

२ डॉ० गोविन्द चातक : क्या गोरी क्या सौंळी, पृ० १५

कूंजा की गुच्छ डाळि, फूली वा वरण-विराळि;
फ्यूंल्यी का बोट पाळि, अब उजास खोलला !
भरी कंडी और झारी, घूमी-फिरी सारी-सारी,
फूल लैन ये फुलारी, श्वेत, लाल, काजला !
दुवला की नथुली नाक, तिलण्या की करि बुलाक,
कूंजा की झुमक काख, रूप-राशि तोलला !
गौंन ऐन सुघड़ वांद, दिन मा जनी फुली चाँद,
माया की लैर छांद, साज सजी वाजला !

—चक्रधर बहुगुणा

कु छों मैं

न कुछ सार मै मा कि बरड़ाट छों मै !
हरो छों कभी कैन काट्यो सुखायो,
लटोल्यो, पटोल्यो, लछ्यायो, रंध्यायो,
कि फिर वल्दू की धौणी मा मैं चढ़ायो,
पुंगड़ियों-पुंगड़ियों फिरायो-घुमायो !
कई वर्ष तैं काम अपणो चलायो,
पुराणो होयो टुटिग्यों तव जळायो !
टुटी औं सड़ी हैंल की लाट छों मैं !

[२]

कभी खाण पर छौं होयों छौ अंधेरो,
नुवयों छौं कि क्वी मुक्क देन्दो नी मेरो,
मगर कैन मै वस रहण नि देयो,
कि जब भैर फेंक्यो तव चैन लेयो !
क्यों गोळ छेणो हथोड़ो चलाए,
सदा पीनी मिन देह अपणी जलाए।
जु खपग्यों फुट्यों घट्ट को पाट छों मैं !

[३]

कभीं छौ सुखीं मै नदीं का किनारा,
कि बेटीं वहू औंदीं छै गौं कीं सारा !
सभी भेद की बात अपणी लगैकी,
कि जांदी छई थक्क पूरी विसैकी !
पर छोड़िकी मैं नदी दूर भागे,
न क्वी पास अब, जब दुर्भाग्य जागे !
दुखी अर बाँजो पड़्यूं घाट छौं मै !

[४]

कभी छाति पर लोग अपणी हिटैंने,
सभी ठोकरे और काँडा मिटैंने !
घरू का दुरू, दूर घर का बुलैंने,
भुल्याँ वर्षूं का लोग गला मिलैंने !
गए अब जमानो, बुरा दीन ऐने,
कि जाणे लोग मै भूलि गैने !
कि अब भीड़-कांडौं भरी बाट छौं मैं !

—भगवती चरण शर्मा 'निर्मोही'

खुदेड़ नौनी

बौड़ि-बौड़ि ऐगी ब्वै, देख, पूष मैना !
गौं की बेटी—ब्वारि ब्वै, मैतु आई गैना ।
मैतुड़ा बूलालि ब्वे, बोई होलि जौंकी,
मेरि जीकूड़ी मा ब्वै, कुयड़ि-सी लौंकी ।
मेल्वड़ी बासलि ब्वै, डाँड्यूं चैत मासऽ,
मौळि गैन डाळि ब्वै, फूलिगे बुराँसऽ ।
लाल वणी होली ब्वै, काफळू डाळी,
लोग खाँदा होला ब्वै लोण राळी-राळी ।

ल्हालि कूरो गाडी व्वै; गौं की वेटी व्वारी,
हरि-भरीं होली व्वै, गेऊं जौ की सारी।
मैतु ऐ गै होलि व्वै, दीदी भुलि गौं की,
मेरी जीकूड़ी मा व्वै कुयड़ि-सी लौंकी।
स्वामी जी सदानी व्वै, परदेश रैंने,
साथ का दगड़्या व्वै, घर आई गैने।
ऊंकू प्यारो ह्वेगी व्वै विदेसू का वासऽ,
वाटो देखी-देखी व्वै, गैन दिन-मासऽ।
वाडुली लगली व्वै भाग भभराली,
या त घर आला व्वै, या त चिट्ठी आली!
गाळी देन्दी सासु व्वै, भै वावू की भारी,
वासी खाणू देन्दी, व्वै बोली मारी-मारी।
बोदी तेरो वावू व्वै जो रुप्या नि खादों,
मेरो लाड़ो प्यारो व्वै, विदेशू जांदो।
बावान बणाये व्वै इनि गति मेरी,
ज्वानि उड़िगे व्वै, वाटो हेरी हेरी!
चिठी भी नी आई, व्वै तव वटी तौंकी,
मेरी जिकुड़ी मा व्वै, कुयड़ी सी लौंकी।[1]

मेरो गढ़वाल

मैं कू छ प्यारो गढ़वाल!
कसी उच्ची डांडी, कखी सैणा सौड़,
पाल्यऊं पाल्यऊं स्या गदन्यों की दौड़,
अगास जाणक द पुंगड़ों की सौड़ी,
डांडी व काठयों को देसा अंग्वाळ!
घारू मल्ड़ी छन गाड़ू घट्टी,
ओर-पोर पुंगड़ो, वीच मा कूटी!

1 भजनसिंह : 'सिहनाद' सुबेडू वेटी गोत।

मो'र अगाड़ी डाळी को छैंल—
पाखा पंद्यारो, पाणी को ताल !

हिसर, किनगोड़, काफळ दाणी,
आरू—घिघारू, बेड़ू की स्याणी,
डांडू को सेन्दुर लाल बुरांस;
फ्यूंलीन झुक्क बणीं मेड़्वाळ !

माळ की घुगूती मैत औन्दी,
हिलांस कैको रैबार लौन्दी;
खुद लगौन्द बासीक कफ्फू—
डाल्यऊं-डाल्यऊं हर साल !

माळ् व चांदू म्यैस्यों का गोठ,
धौळा व बुल्ला बळ्दू की जोंट,
कैंटलेणी गौड़ी भंगलेणी वाछी,
भेरा व वाखरा छन धन-माल !

कांठ्यों उड़ीक जव जांद घाम,
धूळा की होन्दी सोनेरी शाम;
बुरकदी गौड़ी, घर मू छ वाछी,
भागीक औन्दी सनक्वाळ !

दिवा जसी जोत, आछरी ज्यूंदी,
आँख्यों के जैकी ज्वानी छ चूंदी !
पति परदेश, घर पर वांद,
भेजदी चीठी देन्दी स्वाल !

पंडौं कू मंडाण, देवतौं की जात,
दिन कू धाण अर जागर रात;
कवी भूतू घड्याळो, कवी नाच—
नागर्जा, नगेलो, देव घंड्याळ !

भंकोर्‌यों रुणांट, रोपणी का ढोल,
दमौं की तुणामुणी, बांसुळी का बोल,
बळ्द् का खांकर, भैंस्यों की घांडी,
छन छन वाजदी दाथी छुणक्याळ ।
गितार छ गलो नचाड़ छ पैर,
छोपती, चौंफुल्ला, न्यूतू की लैर !
यख नौना, वख नौन्यों की पांत,
आंख्यों मा ज्वानी को उमाळ ।[१]

गुन्दरू का नाक विटे सिंगाणा की धारी छोड़िक वेको मुख वैकी भगुली सब मैला छन । गुन्दरू की मां अलगसी, खलचट और लमडेर छ । भितर देखादौं बोलेन्द यख बखरा रंद होला । मेळो खणेक धुळपट होयूं छ । भितर तब क्वी चीज इथैं क्वी उथैं । सारा भितर तव मार घिचर होई रये । भांडा कूंडा ठोकरियूं मा लमडंणा रंदन । नाज पाणी की खत—एक माणी पकौणू कू निकाळ्न त द्वी माणी खतेई जांदन अर जु कैं ड्रम डुकला, भिखलोई सणी देणां कू बोला त हे राम ![२]

—गढ़वाली ठाट

सलाणी

क्या च म्यारी नाक फटीं जु शरम आ । जमनो वी देखणी छ नयूं । तू वि गंवार की गंवार इ रैगे । अर या त्वीकू या वरखड़यूं की किताव लहयी च । अब धाणी वटी ऐकी रोज ई किताव पैढ़ा कैर ।

दः गरम लुलार त ह्वैं गाया । काम काज वेकू छ नी च । यूं

१ डॉ० गोविन्द चातक : 'फूल पाती', पृ० ३–६
२ 'पहाड़ी' जी के लेख 'गढ़वाली साहित्य' से उद्धृत और सदानन्द कुकरेती द्वारा लिखित ।

मीटिगूं लै दी दीण वुनें त्वै घीड़ा भोरी रुप्या । हे छोरी, तू रूणी छई।[१]

—भारी भूल

टिहरियाली

कै जाति कु विजणू उन्नी होन्दू जन्नी वीं मंगन क्वी-काई वीं सणी सजग्यौणक चरखुर पर लग्यां रंदान । ई विजाल्दारा वीं का लिख्वार होन्दान । लिख्वार अपणी भासा सणी सब ति पैली हर्चण नी देन्दू केन कि उ लिखै मा जनता की गैल रन्दू अर जनता सणी अपणी गैल हिटाळणू रन्दू । जु लिख्वार इनु नि ५दू उ जनता सी विगल्यूं कग रन्दू । पर जनता सणी वी अळेख्यूं चैन्दु कि उ वी इना दर्याळा लिख्वार का फंडैं विटिन कौथगीर न वणू । इनान त इनु होन्दू कि लिख्वारून लिख्यू अर लिख्यूँ लाख्यूँ फंडैं पड़्यो । तब इन्नी त होण कि वीं जाति का साइत्त अग्नैं सर्कणू त कख, पर वणनू भी थांगळ मा पड़ जान्दू । हम सणी अपणी भासा, अपणा लिख्वारू सणो कखर्योणू नी होलू ।

—श्यामचन्द नेगी

तू राँसू, राँसू, गौं का लैख नी थई । रांसू, गाड मू चल ! देख दें पाणि मा, कनी छ तेरी मुखड़ी ।

त तख दी दें गंगाळ फाळ । इ माचु गौं का सारी पिर्थी का फिरड़ी-फारड़ी ओन्दान ओर जरा सी पाणी पेण मा यूं का खूटा तड़क टुटी जांदन ।

अबारी घास काटण थौ । वजारियों का नौना त वुडेन्द-वुडेन्द तलई रन्दान पढ़ण लग्यां ।[२]

—अध: पतन

१ जीतसिंह नेगी : 'भारी भूल' नाटक; पृ० १६;१८

२ अध पतन : भगवती प्रसाद पांथरी ।